दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक आध्यात्मिक मासिक

वीर सं० २४९४ तंत्री–जगजीवन बाउचंद दोशी, सावरकुंडला वर्ष २४ अंक नं० ३

त्रिकालज्ञ का विरह तीनों काल में नहीं है

चारित्र

ज्ञान

दर्शन

एक बार पूज्य स्वामीजी ने प्रवचन में अत्यंत प्रमोद से कहा कि—हे जीव! तू आनंदित हो कि जगत में केवलज्ञान का विरह कभी भी नहीं है... इसका निर्णय करके तू उसका साधक बन!

तीन काल को जाननेवाले ऐसे सर्वज्ञ का तीनों काल में कभी विरह नहीं है। त्रिकालज्ञ पुरुष इस जगत में तीनों काल होते हैं; उसके कारणरूप सर्वज्ञस्वभाव तुझमें सदैव है। उसे निर्णय में लेकर तू सर्वज्ञपद का साधक हो।

केवलज्ञान न हो तो इस जगत का अस्तित्व ही सिद्ध न हो।

श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

जुलाई १९६८ वार्षिक मूल्य ३) रुपये (२७९) एक अंक २५ पैसा [आषाढ़ सं० २४९४

ज्ञान और राग

दोनों एक ही समय में होने पर भी ज्ञान, मोक्ष का कारण है और राग, बंध का कारण है।

एक जीव को सम्यग्ज्ञान और राग दोनों एकसाथ हो सकते हैं ?

हाँ, किसी साधक को सम्यग्ज्ञान और राग दोनों एकसाथ होते हैं; परंतु दोनों साथ होने पर भी दोनों की जाति भिन्न है; काल एक होने पर भी दोनों के भाव में भिन्नता है; ज्ञान तो मोक्ष का कारण है और राग बंध का कारण है;—इसप्रकार उसी काल दोनों की अत्यंत भिन्नता है।

कोई ऐसा माने कि ज्ञानी का जो शुभराग है, वह बंध का कारण नहीं होगा—तो वह जीव भ्रम में है। जिसप्रकार अज्ञानी का राग बंध का कारण है, उसीप्रकार ज्ञानी का शुभराग भी बंध का ही कारण है। राग बंध का कारण होने में मिथ्यादृष्टि या सम्यग्दृष्टि का कोई अंतर नहीं है; अर्थात् राग सम्यग्दृष्टि को हो या मिथ्यादृष्टि को हो, जिस जीव को जितना राग है, वह बंध का ही कारण है, मोक्ष का नहीं। ज्ञानी का जो ज्ञानभाव है, वह मोक्ष का कारण है। ज्ञानी को भी ज्ञान और राग—यह दोनों कहीं मोक्ष का कारण नहीं हैं, उसे भी मोक्ष का कारण तो एक ज्ञान ही है और राग तो बंध का ही कारण है—ऐसा नियम है। इतना अवश्य है कि अज्ञानी की अपेक्षा ज्ञानी का राग अनंतवें भाग अल्प है, इसलिये उसे बंधन भी अनंतवाँ अल्प है और निर्जरा अधिक है। वह निर्जरा शुद्धज्ञान के बल से होती है। इसलिये शुद्धज्ञान पूज्य है, आदरणीय है और शुभरागादि जो अशुद्ध भाव हैं, वे हेय हैं, क्योंकि वे बंधन के कारण हैं।

शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

संपादक : (१) श्री ब्र० गुलाबचंद जैन (२) श्री ब्र० हरिलाल जैन

जुलाई : १९६८ ☆ अषाढ़, वीर नि०सं० २४९४, वर्ष २४ वाँ ☆ अंक : ३

निजपद को सँभाल

श्रीगुरु समझाते हैं कि हे चेतन! तू अपने निजपद को भूलकर रागादि परपद में मग्न होकर सोया हुआ है; इसलिये तुझे धर्म नहीं होता। आत्मा में सर्वज्ञशक्ति है; जिन्होंने वह सर्वज्ञता प्रगट की, उनकी सहज वाणी में ऐसा उपदेश आया है कि आत्मा में अनंत आनंद है। वह आनंद कैसा होगा? किसी बाह्य वस्तु का वह आनंद नहीं है, वह राग का या शरीर का आनंद नहीं है, वे तो सब परपद हैं, उनसे भिन्न चैतन्यस्वरूप निजपद है; उस निजपद के अनुभव का परम आनंद है। जो ऐसे निजपद को नहीं जानते और रागादि को ही देखते हैं, उन्हें संत अंधा कहते हैं। अरे, चैतन्यदेव! तू तो जगत का महान पदार्थ है, रागादि अशुद्धता में तेरा पद नहीं है। अनादि काल से तू अपने शुद्धस्वरूप को भूलकर रागादि अशुद्ध भावोंरूप ही अपना अनुभव कर रहा है, वह तेरा निजपद नहीं है परंतु अपद है—अपद है; ऐसा तू जान और निजपद को संभाल।

[प्रवचन से]

पाँच भाव संबंधी विशेष स्पष्टीकरण

[अंक २७७ से आगे]

औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक—यह पाँच भाव जीव के हैं; इनमें कौन से भाव मोक्ष का कारण हैं, उसका विचार करते हैं—

आत्मद्रव्य कैसा है, उसकी भूलदशा कैसी है और भूल टलने पर आनंददशा होती है, वह कैसी है ?—यह सब पाँच भावों में आ जाता है।

पाँच भावों में यहाँ पहला उपशमभाव लिखा है। अनादि काल के अज्ञानी जीव को सबसे पहली धर्मदशा एवं अपूर्व शांति उपशमभाव द्वारा प्रारंभ होती है। मिथ्यात्वरूपी विषैला सर्प उपशमभावरूपी अमृत द्वारा शांत होता है। मोक्षपंथ पर चलनेवाले जीव को सर्वप्रथम उपशम सम्यक्त्व होता है। चैतन्य की सर्वप्रथम अनुभूति करने से मिथ्यात्व का उपशम हो जाता है। इस उपशमभाव में उदय का अभाव है और यह भाव पर्यायरूप हैं, मोक्ष के कारणरूप है। उपशमभाव में चैतन्य की शांति है। 'उपशमरस वरसे रे प्रभु तारा नयनमां...' चैतन्य के उपशम रस का अनुभव सर्वप्रथम उपशमभाव द्वारा होता है।

मोक्षमार्ग में क्षायोपशमिकभाव भी है। यहाँ अनादि से अज्ञानदशा में भी ज्ञानादि का जो क्षयोपशमभाव है, उसे नहीं लेना है; परंतु उपशमभावपूर्वक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि में क्षयोपशमभावरूप जो पर्याय होती है, वह मोक्षमार्गरूप है। मोक्षमार्ग जीव को ऐसे क्षायोपशमिकभावरूप निर्मलपर्याय भी आये बिना नहीं रहती। यह भाव भी पर्यायरूप है।

क्षायिकभाव, वह सर्वथा कर्म के क्षयरूप संपूर्ण शुद्धदशा है; वह भी द्रव्यरूप नहीं है परंतु निर्मलपर्यायरूप है। यह भाव मोक्ष के कारणरूप तथा मोक्षरूप है।

औदयिकभाव, वह कर्म के उदयसहित ऐसा मलिन परिणाम है। राग-द्वेष-मिथ्यात्वादि भाव, वह औदयिकभाव है।

पाँचवाँ भाव शुद्ध पारिणामिकभाव है, वह द्रव्यरूप है और चार भाव पर्यायरूप हैं।

इसप्रकार परस्पर सापेक्ष ऐसे द्रव्य-पर्यायद्वय, सो आत्मपदार्थ है। पर्याय को द्रव्य की अपेक्षा है और द्रव्य को पर्याय की अपेक्षा है। इसप्रकार परस्पर सापेक्ष द्रव्य-पर्याय दोनोंरूप आत्मवस्तु है।

पहले द्रव्यदृष्टि में जीव को परिणाम से शून्य कहा और यहाँ पर्यायसापेक्ष कहा—ऐसा ही वस्तुस्वरूप है। द्रव्य-पर्याय दोनों के बिना जीववस्तु सिद्ध नहीं होती। द्रव्य और पर्याय की जोड़ी, वह आत्मपदार्थ है। द्रव्यरूप जीव, पर्यायरूप जीव—यह दोनों एकरूप होकर जीववस्तु है।

रागादि को अनात्मा कहा है। शुद्ध जीव में रागादि नहीं हैं और शुद्धजीव को विषय करनेवाली निर्मलपर्याय में भी रागादि नहीं हैं।—ऐसी पर्याय वह मोक्षमार्ग है; और वस्तु पारिणामिकभाव से त्रिकाल है।

मोक्षमार्ग में उपशमिक, क्षायिक तथा क्षायोपशमिकभाव आते हैं, पारिणामिक या औदयिकभाव मोक्षमार्गरूप नहीं हैं। औदयिकभाव तो बंधरूप हैं। पारिणामिकभाव बंध-मोक्ष की अपेक्षा रहित त्रिकाल एकरूप है। पाँच भावों के ऐसे स्वरूप को पहिचाने तो त्रिकालशुद्धभाव के आधार से औपशमिकादिभावरूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है। इसप्रकार द्रव्य-पर्याय के युगलरूप आत्मवस्तु है।

जीव के पाँच भावों की बात चल रही है।—

वहाँ प्रथम तो जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व—ऐसे तीन प्रकार के पारिणामिकभाव हैं; उनमें शुद्ध जीवत्वशक्तिलक्षणरूप पारिणामिकपना, वह शुद्धद्रव्यार्थिकनयाश्रित होने से निरावरण एवं 'शुद्धपारिणामिकभाव'—ऐसी संज्ञायुक्त जानना; वह तो बंध-मोक्ष परिणति से रहित है।—ऐसे स्वभाव का अनुसरण करने से शुद्धता होती है, वह मोक्षमार्ग है। परंतु मोक्षमार्ग वह शुद्धद्रव्यार्थिकनय का विषय नहीं है। शुद्ध पारिणामिकभाव, वह सहजभाव है; वह किसी कर्म से बँधता नहीं है और उसका छूटना भी नहीं होता। बंधन और छूटना, वे दोनों पर्याय में हैं।

शुद्ध चैतन्यप्राणरूप जीवत्व, वह शुद्ध जीवत्व है।

अशुद्ध दस प्राणों से जीनेरूप जीवत्व, वह अशुद्ध जीवत्व है, तथा भव्यत्व और अभव्यत्व यह दोनों भी पर्यायार्थिकनयाश्रित हैं—इन तीनों प्रकारों को 'अशुद्ध पारिणामिकभाव' की संज्ञा है। शुद्धनय के विषय में वे नहीं आते। सिद्धों को उनका अभाव है और शुद्धनय से सर्व जीवों को उनका अभाव है। इसलिये शुद्धजीव का स्वभाव न होने से उन्हें अशुद्ध कहा है।

जड़रूप प्राण से तो आत्मा त्रिकाल भिन्न है; और भीतर जीव की पर्याय में दस प्राण धारण करनेरूप जो योग्यता—वह भी जीव का शुद्ध जीवन नहीं है। एकरूप सहज

जीवत्वस्वभाव, वह शुद्धपारिणामिकभाव है। मोक्ष होने की योग्यता अथवा अयोग्यता—यह दोनों भाव पर्यायरूप हैं; और पर्यायरूप होने से उन्हें 'अशुद्ध पारिणामिक' कहा है। शुद्धद्रव्यरूप ऐसा जो परमस्वभाव, वह शुद्धनय का विषय है और उसे शुद्ध पारिामिकभाव कहा है।—ऐसे लक्षणवाले निजपरमात्मद्रव्य के सम्यग्श्रद्धा-ज्ञान-अनुसरण, सो मोक्षमार्ग है; वह औपशमिकादि तीन भावरूप है।

जीव को कोई जीवस्थान नहीं हैं; मार्गणास्थान भी शुद्ध जीव को नहीं हैं। गति, इन्दियादि चौदह मार्गणाओं द्वारा जीव को बतलाना, वह व्यवहार जीव है; परमार्थभूत शुद्धजीवस्वभाव मार्गणा से पार है।

शुद्धनय से देखने पर सर्व जीव अशुद्ध प्राणों से रहित हैं; और सिद्ध भगवन्तों को तो पर्याय में भी अशुद्धभाव नहीं रहे हैं। संसारी जीवों को पर्याय में अशुद्धभाव हैं परंतु शुद्धद्रव्य की दृष्टि से देखने पर उनमें अशुद्ध भावों का अभाव है। सर्व जीव परमपारिणामिक शुद्धभावरूप हैं।

तीन प्रकार के जो अशुद्ध पारिणामिकभाव कहे, उनमें भव्यत्वपारिणामिकभाव को तो यथासंभव सम्यक्त्वादि जीवगुणों का घातक देशघाती और सर्वघातीकर्म पर्यायार्थिकनय से ढँकता है—ऐसा जानना। सम्यक्त्वादिरूप मोक्षमार्ग प्रगट हो, तब भव्यत्वशक्ति व्यक्त हुई कही जाती है। मोक्षदशा हो जाने के पश्चात् मोक्ष की योग्यतारूप व्यवहार नहीं रहता।

अनंत चैतन्यशक्ति से भरपूर आत्मा चमत्कारिक वस्तु है। आत्मा में अलौकिक धर्म हैं परंतु जीवों को उनकी खबर नहीं है। श्रीमद् राजचंद्रजी कहते हैं कि—चैतन्य का गुप्त चमत्कार सृष्टि के लक्ष में नहीं है। भाई, तेरी परमशक्ति संत तुझे बुलाते हैं।

परमपारिणामिकभावरूप जो परमात्मस्वभाव, उसके सन्मुख परिणमित होने से जो शुद्धभाव प्रगट होता है, उसे 'शुद्धात्माभिमुख परिणाम' अथवा शुद्धोपयोग कहा जाता है; उसे मोक्षमार्ग कहा जाता है; वह परिणाम औपशमिक, क्षायोपशमिक अथवा क्षायिकभावरूप है।

पाँच भावों में पारिणामिकभाव को तो बंध-मोक्षरहित कहा है; बंध-मोक्ष की क्रिया उसमें न होने से उसे निष्क्रिय भी कहा जाता है।

शेष चार भाव पर्यायरूप हैं; औपशमिकादि भाव मोक्ष के कारणरूप हैं; औदयिकभाव वह बंध के कारणरूप है।—इसप्रकार पाँच भावों को जानकर शुद्धपारिणामिकभाव की भावना करने योग्य है। 'भावना' वह मोक्षमार्ग पर्याय है।

ध्यान कहो, परमात्मतत्त्व की भावना कहो, रागरहित भाव कहो, शुद्ध उपादान कहो, जाननेरूप भाव कहो, औपशमिक-क्षायोपशमिक-क्षायिकभाव कहो, शुद्धात्माभिमुख परिणाम कहो, शुद्धोपयोग कहो, धर्म कहो, रत्नत्रय कहो—यह सब मोक्षमार्ग के नाम हैं। इनमें कहीं राग नहीं आता; पराश्रय नहीं आता। स्वाधीन होकर स्वसन्मुखरूप से निजनिधान को प्रगट करे, ऐसा आत्मा है।

निजाधीन निधान से परिपूर्ण आत्मा को दृष्टि में लेने से निधान खुलते हैं—प्राप्त होते हैं—मोक्षमार्ग प्रगट होता है।

मोक्षमार्ग तो शुद्धात्माभिमुख परिणाम है और वह शुभाशुभराग से विमुख है। जो शुभराग है, वह निजात्मसन्मुख परिणाम नहीं है परंतु विमुख है। अभी तो आत्मा से विमुख ऐसे राग को जो मोक्षमार्ग मानता हो, वह परोन्मुखता छोड़कर स्वोन्मुख कब होगा? और उसे मोक्षमार्ग कहाँ से होगा?

यहाँ तो कहते हैं कि जो मोक्षमार्ग है, वह पर्यायरूप है, भावनारूप है। वह पर्याय शुद्धपारिणामिकभावलक्षण शुद्धात्मद्रव्य से कथंचित् भिन्न है। सर्वथा भिन्न नहीं कहा परंतु कथंचित् भिन्न कहा है, क्योंकि उस पर्यायरूप से आत्मा का परिणमन है। परंतु वह भावनारूप होने से अर्थात् पर्यायरूप होने से पर्यायार्थिकनय का विषय है, द्रव्यार्थिकनय का विषय वह नहीं है। इस अपेक्षा से उस परिणाम को शुद्धात्मद्रव्य से 'कथंचित्' भिन्न कहा है। द्रव्य और पर्याय को एक-दूसरे के साथ कोई संबंध नहीं है—ऐसा नहीं है; द्रव्य और पर्याय को एक-दूसरे के साथ संबंध है, परंतु पर्याय जितना ही द्रव्य नहीं है; यदि पर्याय जितना ही द्रव्य हो तो पर्याय का नाश होने से द्रव्य का भी नाश हो जायेगा। वस्तु द्रव्य-पर्याय दोनों रूप है; उनमें ध्रुवद्रव्य, वह द्रव्यार्थिकनय का विषय है और पर्याय, वह पर्यायार्थिकनय का विषय है।

वस्तु द्रव्य-पर्यायस्वरूप है; उसका स्वीकार किये बिना सच्चा तत्त्वनिर्णय या सम्यग्दर्शन नहीं होता; तथा ध्रुवशक्ति में सुख न हो तो सुख का परिणमन कहाँ से होगा?—इसप्रकार उत्पाद-व्यय और ध्रुव अथवा द्रव्य-पर्यायरूप वस्तु है।

ध्रुव के बिना अकेले उत्पाद-व्यय नहीं हो सकते; और उत्पाद-व्यय के बिना अकेला ध्रुव कार्य नहीं कर सकता। ध्रुव तो पारिणामिकभावरूप त्रिकाल स्वभाव है और पर्याय में चार भाव संभवित हैं, उनमें से औपशमिकादि तीन भाव मोक्ष का कारण हैं। स्वशक्ति की प्रतीतिरूप

परिणमित होने से उपशमसम्यक्त्वादि प्रगट होते हैं, उस पर्याय में काललब्धि, पुरुषार्थ आदि आ जाते हैं।

पर्याय स्वयं एकाग्र होकर अपने परमानंदस्वरूप से भेंट करती है; उसे आगमभाषा में औपशमिक-क्षायोपशमिक-क्षायिकभाव कहा जाता है। अध्यात्मशैली में उसे ध्यान कहो, शुद्धात्मसन्मुख परिणाम कहो या शुद्धोपयोग कहो... आदि अनेक नाम कहे जाते हैं। औपशमिकादि तीनों भाव शुद्धात्माभिमुख हैं। यहाँ मोक्षमार्ग में अज्ञानी के परोन्मुख क्षयोपशमभाव की बात नहीं है। मोक्षमार्गदशा के ६५ जितने नाम तो द्रव्यसंग्रह में कहे हैं, अन्य भी अनेक नामों से वह जाना जाता है।

जिस पर्याय द्वारा वस्तु में उपयोग की लीनता होती है, वह उपशमादि तीन भावरूप है और वह मोक्षमार्ग है।

अब, यह जो मोक्षमार्गरूप पर्याय है, वह शुद्धात्मद्रव्य से सर्वथा भिन्न नहीं है परंतु कथंचित् भिन्न है; क्योंकि शुद्ध पारिणामिकभावरूप द्रव्य तो अविनाशी है और पर्याय तो विनाशीक है; यदि वे दोनों सर्वथा एक हों तो पर्याय का नाश होने से द्रव्य का भी नाश हो जाये। अंश ही पूर्ण अंशी नहीं है। एक पर्याय, वह पूर्ण द्रव्य नहीं है; उस अपेक्षा से द्रव्य-पर्याय को कथंचित् भिन्न कहा है।

यदि पर्याय को न माने तो समझना कि मोक्षमार्ग प्रगट करना रहता ही नहीं। पर्याय आत्मा में सर्वथा है ही नहीं—ऐसा नहीं है; द्रव्य-पर्यायरूप आत्मवस्तु है; ऐसे आत्मा को पहिचाने तो सच्चा निर्णय कहा जाये।

औपशमिकादि भाव हैं, वे भावनारूप हैं—पर्यायरूप हैं और परमपारिणामिकभावरूप द्रव्य, वह भावनारूप नहीं है, पर्यायरूप नहीं हैं। यह जो 'भावना' कही, वह तीन निर्मलभावरूप है, वह मोक्षमार्गरूप है, उसमें विकल्प नहीं है, राग नहीं है। शुद्धस्वभाव में जितनी एकाग्रता, उतनी 'भावना' है। यह भावनापर्याय पलटकर पूर्ण शुद्ध मोक्षदशा प्रगट होती है, परंतु शुद्धद्रव्य पारिणामिकभावरूप है, वह कभी नष्ट नहीं होता, वह अविनाशी एकरूप है। वह द्रव्य स्वयं मोक्ष के कारणरूप या मोक्षरूप नहीं होता; मोक्ष और मोक्ष का कारण, यह दोनों तो पर्याय में है, द्रव्यस्वभाव तो शक्तिरूप से मोक्षस्वरूप ही है; उसकी सन्मुखता द्वारा पर्याय में व्यक्तिरूप मोक्ष होता है, उसकी यह बात है। व्यक्तिरूप मोक्ष, वह संपूर्ण क्षायिकभाव है और शुद्धात्मसन्मुख ऐसे औपशमिकादि तीन भाव मोक्ष के कारणरूप हैं।

ज्ञानी का अंतरंग गहरा है। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा गहन-गंभीर है कि बाह्य स्थूलता द्वारा पकड़ में नहीं आ सकता, शुभ विकल्पों द्वारा भी उसे नहीं पकड़ा जा सकता; अंतर्मुख शुद्ध उपयोग द्वारा ही वह पकड़ में आता है।

ध्येयरूप शुद्धात्मा का ध्यान करनेवाली पर्याय है; वह पर्याय अपूर्व है, परंतु वह नित्यस्थित नहीं है, बदलती रहती है। बदलने का स्वभाव अनादि-अनंत है, परंतु अज्ञान के कारण अनादि से विकारीरूप बदल रहा है; परमात्मस्वरूप का ध्यान करने से अपूर्व निर्मलदशारूप बदल जाता है। 'आत्मा द्रव्य से नित्य है, पर्याय से बदलता है।' वस्तु का स्वभाव ऐसा है कि वह ध्रुव स्थित रहकर उसकी पर्याय क्षण-क्षण बदलती है। पर्याय की दृष्टि ध्रुव स्वभाव चिदानंद भगवान पर है; जिसे ध्यान करना है, उसे किसका ध्यान करना चाहिये, उसकी बात है।

जो सत् हो, उसका ध्यान होता है। सत् वस्तु क्या है—उसकी पहिचान बिना ध्यान करना चाहे तो उसे शून्य जैसा हो जायेगा।

भावनारूप भावश्रुतज्ञान पर्याय है, वह अंतर्मुख होने पर उसमें वस्तु यथार्थ परिणमित हो जाती है, उसमें अपूर्व आनंद एवं अपूर्व शांति है। इसका नाम ध्यान है और यह मोक्षमार्ग है। मोक्षमार्ग अर्थात् मोक्ष का कारण पाँच भावों में से कौन-से भाव हैं, वह यहाँ बतलाया है। कौन-सा भाव मोक्ष का कारण निश्चित हुआ, वह कहते हैं:—

'शुद्ध पारिणामिकभाव की भावनारूप जो औपशमिकादि तीन भाव हैं, वे समस्त रागादि रहित शुद्धउपादानकारणभूत होने से मोक्ष के कारण हैं'—ऐसा निश्चित हुआ।

'भावना' वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप है; वह रागरहित है, विकल्परहित है, क्योंकि राग और विकल्प तो उदयभाव है और यह शुद्धात्मभावना तो औपशमिकादि निर्मलभावरूप हैं—वह मोक्षमार्ग है। शुभराग तो उदयभाव है, वह मोक्ष का कारण नहीं है, वह तो बंध का कारण है। भावना का वीतरागभाव तो अमृत का झरना है और राग तो विषैला भाव है। यह उपशमिकादि भाव चौथे गुणस्थान से प्रारंभ होते हैं। शुद्धात्मा की भावनारूप जो मोक्षमार्ग, उसमें राग का किंचित् आलंबन नहीं है, वह तो परमात्मस्वरूप की ही भावना करता है; ऐसा भाव वह मोक्ष का कारण है। राग मोक्ष का कारण नहीं है तथा पारिणामिकभाव में नहीं है; इसलिये उसमें क्रियारूप परिणति नहीं है; वह कारण-कार्य रहित, बंध-मोक्षरहित सहज

एकरूप है। उसमें पर्याय एकाकार होने से अतीन्द्रिय आनंद का झरना बहता है।

यहाँ मोक्ष के कारण-कार्य दोनों पर्याय में बतलाना हैं। अभेदरूप से शुद्धद्रव्य को भी मोक्ष का कारण कहा जाता है, क्योंकि उसमें एकाकार होकर मोक्षपर्याय प्रगट होती है; परंतु पर्याय-अपेक्षा से शुद्धात्मा की भावनारूप जो औपशमिकादि तीन भाव, वे मोक्षकारण हैं। पारिणामिकभाव स्वयं कारण-कार्यपना रहित है, उस अपेक्षा से उसे निष्क्रिय कहते हैं। जो शुद्धपर्याय परिणमित हुई, वह सत् है, उसे भी 'आत्मा' कहा है।

बंध पर्याय के समय, मोक्षमार्ग प्रगट हो उस समय, या मोक्षदशा प्रगट हो उस समय परमपारिणामिकभाव तो ज्यों का त्यों एकरूप विद्यमान है, उसमें न्यूनता-अधिकता नहीं हुई। मति-श्रुतज्ञान के समय या केवलज्ञान के समय ज्ञानगुण तो पारिणामिकस्वभाव से उतने का उतना ही है। (-इसप्रकार आनंद, श्रद्धा आदि सर्व गुणों में पारिणामिकभाव से एकरूपता है।) पर्यायधर्म परिणमित होने का है और ध्रुवधर्म से देखने पर वस्तु अपरिणामी है।

आत्मतत्त्व शरीरादि से तो भिन्न है; राग से भी उसका स्वरूप भिन्न है और एक समय की पर्याय जितना भी संपूर्ण तत्त्व नहीं है। अभेदरूप से मोक्षपर्याय का कारण आत्मा ही है; पर्यायरूप से औपशमिकादि निर्मलपर्याय उसका कारण है। द्रव्य और पर्याय दो के बीच बात है, परवस्तु या रागादि तो मोक्ष का कारण है नहीं। व्यवहार से (भेद से) देखा जाये तो पूर्वपर्याय कारण और अभेद से देखें तो उस काल का द्रव्य ही कारण है।

यहाँ पाँच भावों में पारिणामिकभाव को कारण-कार्य रहित निष्क्रिय कहना है; उसका अवलंबन लेनेवाली पर्यायरूप जो परमात्मभावना है, वह मोक्षमार्ग है, वह भावना औपशमिकादि भावरूप है।

अकेले ध्रुव में कारण-कार्य नहीं होते;
अकेले क्षणिक में कारण-कार्य नहीं होते।

ध्रुवधाम का अवलंबन लेकर परिणमित होनेवाली पर्याय, वह मोक्षकारण है। मोक्षकारण अपनी पर्याय में ही है।

शक्तिरूप मोक्ष अर्थात् शुद्धद्रव्यस्वभाव तो त्रिकाल है; और पर्याय की शुद्धता अर्थात् व्यक्तिरूप मोक्ष—उसकी यह बात है। उस व्यक्तिरूप मोक्ष का कारण औपशमिकादि भाव है और शक्तिरूप मोक्ष, वह पारिणामिकभाव है।

वस्तु में दो अंश हैं—एक ध्रुव अंश और दूसरा उत्पाद-व्ययरूप अंश। इसप्रकार द्रव्य और पर्याय दोनों रूप स्वतंत्र वस्तु है। पर्यायअंश है, वह त्रिकाल नहीं है, वह बदलता अंश है, और ध्रुवअंश वह स्थिर—नित्यस्थायी अंश है। स्थिर और अस्थिर अर्थात् द्रव्य और पर्याय—ऐसे स्वरूप में वस्तु का अस्तित्व है।

आत्मा में क्रिया होती है ?

हाँ, आत्मा की पर्याय में मोक्ष की क्रिया है, शुद्धभावनारूप मोक्षक्रिया ही धर्म की क्रिया है, इसके अतिरिक्त बाह्य में धर्म की क्रिया नहीं है। शुद्धभावनारूप परिणति ही धर्म की क्रिया है, वही मोक्ष का कारण है; उसमें राग नहीं आता। ध्रुव सो, सामान्य और पर्याय, सो विशेष—इसप्रकार वस्तु को सामान्य-विशेषरूप सिद्ध किया है।

यह बात प्रवचन में कई बार आती है; प्रवचन में बहुत-सी बातों के साथ गंभीररूप से सब आता है, परंतु श्रोता उसकी गंभीरता को पकड़ ले तो ख्याल में आ जाये। बाकी ऊपर-ऊपर से सुन लेने में तो धारणा हो जाती है, परंतु गंभीरता का ख्याल नहीं आता। श्रोता स्वयं अंतर प्रयत्नपूर्वक गंभीरता को पकड़े, तब सच्चा रहस्य लक्ष में आये।

ध्रुवस्वभाव में राग या बंधन नहीं है, इसलिये राग से या बंधन से छूटना नहीं रहता; वह तो सदा मुक्त ही है; और पर्याय में जो बंधन है, उसे टालकर मुक्तदशा प्रगट करने का कारण औपशमिकादिभाव है। पर्याय का कारण-कार्यपना पर्याय में है, द्रव्य में नहीं है। द्रव्य और पर्याय दोनों हैं अपने में, परंतु दोनों के स्वरूप में कथंचित् भिन्नता है।

द्रव्य और पर्याय दोनों वस्तु में हैं; दो में से एक को निकाल दें तो वस्तु सिद्ध नहीं होगी। कार्य तो पर्याय द्वारा होता है; ध्रुव का स्वीकार भी पर्याय द्वारा होता है। पर्याय को निकाल दें तो ध्रुव की प्रतीति की किसने ? प्रतीति करनेवाली पर्याय, वह मोक्षमार्ग है। ध्रुव में मोक्षमार्ग नहीं आता।

रागादिभाव, वह बंध के कारणरूप क्रिया है और शुद्ध आत्मा की भावना, वह मोक्ष के कारणरूप क्रिया है; इनमें बंध के कारणरूप क्रिया, वह औदयिकभाव और मोक्ष के कारणरूप क्रिया, वह उपशमादिभाव है; पारिणामिकभाव बंध-मोक्ष के कारणरूप क्रिया से रहित है, इसलिये निष्क्रिय है।

ऐसा होने से शुद्ध पारिणामिकभाव ध्येयरूप है; ध्यानरूप नहीं है। ध्यान स्वयं पर्याय

है; वह ध्येय में एकाग्र हो, उसका नाम मोक्षमार्ग है। परमात्मतत्त्व की भावनारूप शुद्धपरिणति, वह मोक्षकारण है, वही मोक्ष की क्रिया है, वही मोक्षमार्ग है; वह धर्म है; उसे शुद्धोपयोग कहो, औपशमिकादिभाव कहो;—अन्य अनेक नामों से भी वह जाना जाता है।

परम पारिणामिकभाव ध्येयरूप है, ध्यानरूप नहीं है।

औपशमिकादि तीन भाव ध्यानरूप हैं, मोक्षकारण है।

औदयिकभाव वह परभाव है, वह बंधकारण है।

ध्रुवस्वरूप उपजता-विनशता नहीं है।

उपजना-विनशना, वह पर्याय में है।

यह दोनों धर्म न हों तो दुःख दूर होकर सुख न हो।

—इसप्रकार जो ध्रुव को नहीं जानता, उसे ध्रुव का लक्ष कराते हैं और पर्याय को न माने, उसे पर्याय बतलाते हैं। दो मिलकर वस्तुस्वरूप है। दोनों को जाने बिना सच्ची रुचि नहीं होती और मोक्षमार्ग नहीं सधता।

मोक्ष के कारणरूप जो भावना है, वह एकदेश शुद्धनय का विषय है; उसमें निर्विकार स्वसंवेदनलक्षणरूप भावश्रुत है। आत्मा की एकदेश शुद्धतारूप यह भावना मोक्षमार्ग है और पूर्ण शुद्धता होने पर मोक्षदशा होती है, तब 'भावना' दशा नहीं रहती। विकल्प में राग का वेदन है, उससे रहित ऐसा निर्विकार स्वसंवेदन है। मोक्ष के कारणरूप इस 'भावना' में क्या भाते हैं? कि 'जो सकल निरावरण अखंड एक प्रतिभासमय अविनश्वर शुद्धपारिणामिक परमभावलक्षण निजपरमात्मद्रव्य, वही मैं हूँ'—ऐसा ज्ञानी भावश्रुत द्वारा भाते हैं; परंतु 'खंडज्ञानरूप मैं हूँ' ऐसा ज्ञानी नहीं भाते। इसप्रकार शुद्धात्मा की भावना करना, वह तात्पर्यवृत्ति का तात्पर्य है।

यह व्याख्यान परस्पर सापेक्ष ऐसे आगम-अध्यात्म के तथा द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक दोनों नयों के अभिप्राय के अविरोधपूर्वक ही कहा गया है। इसलिए सिद्ध है—ऐसा विवेकियों को जानना।

(जयजिनेन्द्र)

निश्चय से करनेयोग्य कार्य—

'शुद्धनय' अर्थात् शुद्ध आत्मस्वरूप का अनुभव, —उसे एक क्षण भी भूलना नहीं।

[श्री समयसार कलश १२२-२३ पर आत्मानुभव की प्रेरणा देनेवाला सुंदर प्रवचन]

मोक्षार्थी जीव का कार्य क्या? मोक्षार्थी जीव का निश्चय से इतना ही कार्य है कि आत्मा के शुद्धस्वरूप का अनुभव करना। शुद्धस्वरूप एक क्षण भी भुलाने योग्य नहीं है—यही तात्पर्य है, यही श्रुत का सार है। शुद्धनय द्वारा शुद्धस्वरूप का अनुभव करनेवाला जीव कर्म से मुक्त होता है; और जो शुद्धस्वरूप का अनुभव नहीं करते और उसे छोड़कर अशुद्धता को ही देखते हैं, वे जीव अपने को अशुद्ध ही अनुभव करते हुए कर्म से बँधते हैं; इसलिये मोक्षार्थी को शुद्धनय छोड़ने योग्य नहीं है-यह तात्पर्य है।

'शुद्ध-नय' अर्थात् जो शुद्धस्वरूप में ले जाये, ऐसा उपयोग वह शुद्धनय है; शुद्धस्वरूप के सन्मुख जाकर उसका अनुभव करना, वह शुद्धनय है। ऐसा शुद्धनय साधक जीव को क्षणमात्र भी भुलाने जैसा नहीं है, छोड़नेयोग्य नहीं है। ऐसे शुद्धस्वरूप के अनुभवरूप शुद्धनय, वह मोक्ष का कारण है। उस शुद्धनय के अभाव में बंधन होता है। शुद्धनय द्वारा शुद्धस्वरूप को जानने से-अनुभव करने से ही शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है।

सम्यग्दृष्टि जीव ने शुद्धनय द्वारा अपना कार्य किया है; अपना उत्तम कार्य जो शुद्धस्वरूप का अनुभव, वह कार्य धर्मी जीव ने कर लिया है, इसलिये वे आत्मा के सच्चे कार्यकर्ता हैं; उन्हें यहाँ **कृतिभिः** कहा है। ऐसे सम्यग्दृष्टि-धर्मात्मा शुद्धनय को अर्थात् अपने शुद्धस्वरूप को क्षणमात्र भी नहीं भूलते। शुद्धनय के साथ अतीन्द्रिय सुखस्वरूप की परिणति भी सतत धारावाहीरूप से वर्तती है। ऐसे धर्मात्मा को अंतर में परमात्मस्वरूप की भेंट हो गई है और संसार का अंत आ गया है। अहो! धर्मी को निजस्वरूप के विस्मरण का अवकाश ही नहीं है; वह उसे रट-रट कर याद नहीं रखना पड़ता; परंतु उसरूप सहज परिणति ही हो गई है।

शुद्धनय अर्थात् शुद्ध परमात्मस्वरूप का अनुभव धर्मी को सदा वर्तता है; उस अनुभवरूप शुद्धनय कैसा है?—कि समस्त राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्धता का एवं कर्मों का मूल

में से ही क्षय करने के स्वभाववाला है। नववें कलश में भी कहा था कि जीव वस्तु प्रत्यक्षरूप से अनुभवशील है। वह जीव वस्तु सर्व प्रकार के विकल्पों की क्षयकरणशील है। चैतन्यवस्तु विकल्प की उत्पादक या रक्षक नहीं है परंतु नाशक है। ऐसी जीव वस्तु जहाँ अनुभव में आयी, वहाँ सर्व विकल्पों का क्षय हो गया।—ऐसा ही शुद्ध जीव का स्वभाव है। जिसप्रकार सूर्य में अंधकार नहीं है; उसीप्रकार चैतन्यवस्तु के अनुभव में विकल्प नहीं है।

जहाँ शुद्धस्वरूप का अनुभवनशील हुआ, वहाँ वह जीव कर्मों का क्षयकरणशील हुआ। अंतर की शुद्धपरिणति में आनंद के चौक पुर गये हैं। चैतन्य के अनुभव में आनंद का प्रवाह बहता है—यही उसकी महानता है। ऐसी महानता पुण्य में नहीं है, पुण्य में आनंद का प्रवाह नहीं है। शुद्धनय से देखने पर ऐसी चैतन्यवस्तु अनादि से है; उस चैतन्य का अनुभव ऐसा रामबाण है कि वह अशुद्धता का और कर्म का क्षय करता ही है।

ऐसे शुद्ध आत्मा का जिसने अनुभव किया, वह '**आतमराम**' हुआ। पहले निजस्वरूप को भूलकर पुण्य-पापरूपी परभावों में भटकता था, तब '**भ्रमता राम**' था—चार गतियों में भ्रमण करता था, अब शुद्धनय द्वारा निजात्मस्वरूप में स्थिर होकर 'आतमराम' हुआ।—उस आतमराम की बड़ी महानता है कि उसकी परिणति में सदा परम आनंद की धारा बहती है।

संयोग द्वारा या राग द्वारा आत्मा की महानता नहीं है, परंतु शुद्धस्वरूप का अनुभव करके अतीन्द्रिय सुखरूप परिणमित हो, वही आत्मा की महानता है; उसमें परमात्मपद की प्राप्ति होती है।

निर्विकल्प वस्तुमात्र आत्मा की प्राप्ति किसप्रकार होती है? उसकी यह बात है। शुद्धनय को ग्रहण करके शुद्धस्वरूप का अनुभव करने से रागादि में आत्मबुद्धि तत्काल छूट जाती है और शुद्धस्वरूप की प्राप्ति होती है। शुद्धस्वरूप की अनुभूति ही उसकी प्राप्ति है। प्राप्ति अर्थात् परिणमन; शुद्धतारूप परिणमन होना, वही शुद्धस्वरूप की प्राप्ति कहलाती है। ऐसे शुद्धस्वरूप को हे जीव! तू एक क्षण भी भूलना नहीं। तू ज्ञानघन एवं आनंदकंद है। रागादि परभाव वास्तव में तू नहीं है।—ऐसे अपने स्वरूप को शुद्धनय से सदा लक्ष में रखना, एक क्षण भी उसे भूलना नहीं।

शुद्धनयरूप भावश्रुतज्ञान विकल्प के बिना प्रत्यक्षरूप से आत्मा का अनुभव करता है। भले ही केवलज्ञान जैसा प्रत्यक्ष नहीं है परंतु स्वसंवेदनरूप प्रत्यक्ष है—सीधा आत्मोन्मुख

होकर वह ज्ञान आत्मा का अनुभव करता है। उस अनुभव में आनंद की धारा बहती है।

रागादि विकल्पों में या सामग्री में आत्मबुद्धि, वह तो भ्रम है, मृग-मरीचिका (तपती हुई रेत में पानी की कल्पना) समान भ्रमणा है, मिथ्या है। जिसप्रकार रेत में पानी नहीं है; उसीप्रकार शरीरादि जड़ में आत्मा नहीं है। जिसप्रकार रेत में पानी नहीं है; उसीप्रकार रागादि में आत्मा की चेतना नहीं है। कोई मृगजल में पानी मानकर उससे प्यास बुझाना चाहे तो उससे प्यास नहीं मिटेगी, उल्टा अधिक दु:खी होगा; उसीप्रकार कोई रागादि में से या बाह्य सामग्री में से सुख लेना चाहे अथवा उससे आकुलता की तृष्णा मिटाना चाहे तो उससे तृष्णा नहीं मिटेगी और सुख नहीं मिलेगा, उल्टा वह जीव मिथ्या भ्रमणा से महा दु:खी होगा। इसलिये कहते हैं कि—

हे जीव! एक क्षण भी शुद्धस्वरूप को भूलकर अन्यत्र कहीं आत्मबुद्धि नहीं करना। सदा शुद्धनयस्वरूप शुद्धआत्मा को उपादेय करना—उसी को श्रद्धा में रखना, उसके सिवा दूसरे का आदर कभी नहीं करना।

अहो, मेरे हृदय में स्फुरायमान यह निजआत्मगुण संपदा जो कि समाधि का विषय है, उसे मैंने पूर्व काल में एक क्षण भी नहीं जाना। वास्तव में तीन लोक के वैभव के प्रलय के हेतुभूत दुष्कर्मों की प्रभुत्वगुणशक्ति से अरे रे, मैं संसार में मारा गया हूँ; परंतु अब मैं अपने आत्मा की प्रभुत्वशक्ति की सँभाल करके तथा कर्मों की शक्ति को नष्ट करके अपने सिद्धपद को साधूँगा।

धर्म अर्थात् सुख

मुमुक्षु भाई श्री नवलचंद जे. शाह ने पूज्य स्वामीजी के प्रवचन अनुसार धर्म का स्वरूप लिखा था; उसकी शैली सुगम होने से उसे यहाँ दे रहे हैं—यह लेख सर्व जिज्ञासुओं को उपयोगी होगा। (संपादक)

अमर जीवन प्राप्त करने की रीति

धर्म सुख के लिये है :—

प्रत्येक जीव सुख चाहता है; मिथ्या उपाय से सुख प्राप्त नहीं होता, परंतु इच्छा तो सभी को सुख की ही है। धर्म सुख का उपाय है।

धर्म अर्थात् वस्तु का स्वरूप :—

मैं जो पदार्थ हूँ, वह कौन है, कब से है, किससे टिका हुआ है, किस स्वरूप है, कब तक रहता है ?—आदि का निर्णय करके, फिर क्या करना उचित है, उसका विचार करना चाहिये। ऐसा न किया जाये तो अकारण दुःख उत्पन्न होता है।

जिसप्रकार साँप ने किसी आदमी को काटा हो और कोई दूसरा कहे कि मुझे विष चढ़ा है; खाया हो नौकर ने और सेठ कहे कि मेरा पेट भर गया; बुखार आया हो शरीर में और अन्य प्रदेशों में (असंख्य चेतनप्रदेशों में) विद्यमान जीव कहे कि मुझे बुखार आया; खाया शरीर ने और अरूपी सूक्ष्म चेतनपदार्थ कहे कि मैंने खाया;—इसप्रकार सच्चे निर्णय बिना व्यर्थ दुःख उत्पन्न होता है। इसलिये अब इतना तो प्रथम निश्चित करना चाहिये कि मैं कौन हूँ ? प्रत्येक जीव अपनी अस्ति अर्थात् अपना अस्तित्व, अपना 'अहं'पना तो चाहता है, (पर में 'अहं'पना वह दोष है, परंतु अपने में ही अपना अहंपना अर्थात् स्व में स्वबुद्धि—वह दोष नहीं है परंतु वह तो श्रद्धा का कार्य है,) अपना अभाव कोई नहीं चाहता। स्वयं कौन-सी अस्ति है ? उसका निर्णय करने के लिये जिनेन्द्र भगवान ने सरल एवं अकाट्य उपाय बतलाया है; वह उपाय है—छह द्रव्यों के लक्षण सहित विभाग करना।

तुम शरीर नहीं, जीव हो: —

जीव और अजीव (पुद्गल-धर्मास्ति-अधर्मास्ति-आकाश और काल) यह द्रव्य एक-दूसरे से भिन्न हैं। ऐसा होने से एक द्रव्य दो द्रव्य नहीं हो सकता; जिसप्रकार एक जीव मात्र जीव ही होता है, अजीव नहीं होता; जीव स्वयं जीव भी हो और शरीर भी हो—ऐसा नहीं होता। इसप्रकार तुम शरीर नहीं किंतु जीव हो।

जीव ज्ञानस्वरूप है: —

अब, जीव ऐसे तुम सुख को चाह रखते हो, सुख के प्रश्न पूछते हो, उत्तर भी तुम्हीं सुनोगे। तो ज्ञान के साधन बिना ऐसे प्रश्न-उत्तर नहीं होते; इसलिये तुम ज्ञानभावयुक्त अनेक गुण संपन्न एक पदार्थ हो—ऐसा निश्चित हुआ। यानी तुम ज्ञान का साधन करते हो, इसलिये तुम जीव ही हो; शरीरादि अन्य पदार्थ तुम नहीं हो। इसप्रकार 'मैं कौन हूँ'—इसका निर्णय यह हुआ कि जीव ही मैं हूँ और शरीरादि मैं नहीं हूँ।

अब जीव का स्वरूप ज्ञान-चेतन और अरूपी है। जानने का कार्य होता है, वह जीव का अंश है। 'जैसा अंश वैसा अंशी'—इसलिये तुम ज्ञानस्वरूप जीव हो। संपूर्ण जीवद्रव्य अरूपी सूक्ष्म ज्ञानस्वरूपी है; उसका क्षेत्र असंख्यप्रदेशी लोकप्रमाण है, वह वर्तमान में संकुचित होकर देह-प्रमाण है। मैं देह हूँ—ऐसा तुम अनादि से मानते हो, तथापि तुम अब भी अरूपी चैतन्यस्वरूपी असंख्यप्रदेशी जीव ही हो, इसका प्रमाण यह है कि तुम अब भी उपयोग (ज्ञान-दर्शन) करते हो। अनादि से इसप्रकार एक ही भाव से ज्ञानरूप रहे हो, कभी शरीररूप-जड़रूप नहीं हुए—होगे भी नहीं।

अन्य जो पाँच अचेतन जड़ द्रव्य हैं, वे तो तुम्हें कैसे उत्पन्न करेंगे ?—क्योंकि तुम तो चेतन हो; तुम अचेतन नहीं हो। तथा दूसरा चेतन-जीव तुम्हें बनाये तो वह स्वयं घट जाये—न्यून हो जाये। इसलिये यह जीव स्वयंभू अपने से ही अनादि से ज्ञानप्रदेशों में ज्ञानरूप से व्यक्त होता बैठा है।

जीव का जीवन चेतनभाव: —

अब, ज्ञानस्वरूप जीव अनादि से है, यह तो बराबर है, परंतु वह काहे से पोषण प्राप्त करता है ? काहे से बना रहता है ? भाई, पाँच सेर घी में पाँच सेर मिट्टी मिलाने से घी दस सेर नहीं होता, क्योंकि दोनों की जाति भिन्न है। उसीप्रकार चेतनपदार्थ, अचेतन स्थूल ऐसे दाल-

भात-रोटी-घी-जल-वायु-श्वास में मिलकर अपने चेतनत्व को बनाये रहे अथवा उसे पुष्ट करे, वह असंभव है, क्योंकि दोनों की जाति भिन्न है।—इसप्रकार अन्य पदार्थ के बिना ही यह जीव अनादि से जीवरूप है, वह चेतनभाव के कारण जीवरूप है। अब—

—अब विचार करो कि चेतनभाव किसने दिया? अचेतन तो कहाँ से देगा? उसमें चेतना है ही कहाँ? और यदि दूसरे चेतन पदार्थ इस आत्मा को चेतनभाव दें तो उनकी चेतनता घट जाये—न्यून हो जाये; यह आत्मा स्वयं ही चेतनभाव लेकर बैठा है, इसलिये स्वावलंबी है।

ऐसा निर्णय होने पर, आहार-वस्त्र-मकान-स्त्री-पुत्र-श्वास-वायु आदि पदार्थों से मेरा चेतनपना बना रहता है, ऐसा मानकर उन्हें प्राप्त करने के लिये अज्ञानभाव से जो क्रोध-मान-माया-लोभ-राग-द्वेषादि करता था, वे छूट गये; क्योंकि वे पदार्थ मिलें या न मिलें; वे फट जायें, जल जायें या उनकी चोरी हो जाये—तथापि मेरे चेतन में से कुछ चला नहीं जाता, मैं तो उनके बिना ही जीता हूँ। उन पदार्थों के बिना ही जीव जीता है; इसलिये उनके कारण कषाय करना नहीं रहा। तथा मरण का भी डर नहीं रहा, इसलिये मृत्यु के समय भी चेतनभावरूप समाधि ही रहेगी; क्योंकि मैं तो चेतन हूँ। आत्मा अपने अतिरिक्त अन्य पदार्थों से—इन्द्रियाँ, इन्द्रिय-विषय, आहार, मकान, शरीर या सगे-संबंधी आदि में से कहीं अपनी चेतनता (जीवन) प्राप्त नहीं करता अर्थात् उनसे आत्मा का जीवन नहीं है, इसलिये वे सब पदार्थ अनावश्यक प्रतीत होते हैं, उनका मोह नहीं रहता। मैं अपने चेतनभाव से जीवित हूँ और वह तो मेरे साथ ही है—कभी मुझसे पृथक् नहीं है।

इसप्रकार अपने चेतनभाव में ही स्थित मैं, अन्य समस्त पदार्थों के प्रति साम्यभाव धारण करता हूँ। इसलिये उनके प्रति मुझे समता ही है। वे सब मेरे लिये मात्र ज्ञेय ही हैं।

अब यहाँ से दूसरी गति में जाना हो, तथापि मेरा मरण नहीं है, क्योंकि मेरा चेतनभाव मेरे साथ ही होने से मैं जीवित ही हूँ। यहाँ से दूसरी गति में जाने पर भी मेरा मरण नहीं है, परंतु चेतनमय मेरा जीवन चलता ही रहता है।—फिर मृत्यु का भय कैसा?—असमाधि कैसी?

देवगति के समय दिव्य वैक्रियक शरीर जीव के पास होगा, तब भी उससे पृथक् मैं तो अरूपी सूक्ष्म चेतन असंख्यप्रदेशी जीव ही होने के कारण वहाँ के पदार्थ भी अनावश्यक ही लगेंगे, उनके द्वारा कहीं मेरे चेतनभाव की पुष्टि नहीं होगी। मैं अपने चेतनप्रदेशों में रहता हुआ, चेतनभाव से ही पुष्ट रहता हुआ, स्व-भाव का उपयोग करने लगा हूँ। यहाँ देवलोक में, विदेह

या मोक्ष में—सर्वत्र मेरा जीवन एक प्रकार का है और अपने चेतनप्राण से ही वह पुष्ट है। इसलिये अपना जीवन बनाये रखने के लिये किसी क्षेत्र, किसी काल या किन्हीं संयोगों से मुझे प्रयोजन नहीं है। मैं अपने स्व-भावों से, चेतन, सुख आदि से प्रभु हुआ हूँ।

प्रश्नः—आत्मा स्वावलंबी, अपने चेतन द्वारा जीनेवाला सिद्ध हुआ; परंतु वह शाश्वत् हो अर्थात् उसकी सुखमय अस्ति सदैव दीर्घकाल तक बनी रहे-यह सबको अच्छा लगता है; इसलिये आत्मा का जीवन शाश्वत है, वह भी समझाइये।

उत्तरः—तुम चेतनभाव हो; तुम्हारी चेतनता तुमसे पृथक् नहीं होती; तुम्हारी चेतनता अन्य अचेतन पदार्थों में मिलती ही नहीं।—

क्यारे कोई वस्तुनो केवल होय न नाश;
चेतन पामे नाश तो शेमां भले तपास ?

(आत्मसिद्धि)

तेरी स्वाधीन चेतना कभी नष्ट नहीं होगी, और चेतनपना छोड़कर अन्य किसी के साथ वह एकमेक नहीं होगी, सदा चेतनरूप से बनी रहेगी। जिसप्रकार कल का चेतनपना आज बना हुआ है; पच्चीस, पचास या सौ वर्ष पूर्व का चेतनपना आज बना हुआ देखने में आता है—अनुभव में आता है, उसीप्रकार आज का चेतनपना कल या पाँच-पचास वर्ष पश्चात् अथवा भविष्य में सदाकाल बना रहेगा; उसे बनाये रखने के लिये तुझे किसी शरीर का, राग का या संयोग का अवलंबन नहीं लेना पड़ेगा।

इसप्रकार मैं अपने ही चेतनभाव द्वारा सदाकाल स्वयमेव शाश्वत जीनेवाला होने से किसी अन्य द्वारा रक्षा करने की या नष्ट होने की शंका नहीं है। अपने जीवन की पुष्टि के लिये, अपने चेतन की पुष्टि के लिये किसी शुभद्रव्य का लक्ष करके शुभभाव करना या अशुभ पदार्थ का लक्ष करके अशुभभाव करना नहीं रहा। शुभ-अशुभ के बिना रहा जा सकता है और शुभ-अशुभ रहित ज्ञानमय जीवन ही सुखी जीवन है; वही सच्चा जीवन है। शुभ-अशुभ न हो, तब भी ज्ञान-दर्शन उपयोग तो होता ही रहता है; राग-द्वेष के अभाव में कहीं ज्ञान का अभाव नहीं हो जाता। इसलिये शुभाशुभ के अभाव में भी चेतन का जीवन तो बना ही रहता है। इसलिये जीवन को बनाये रखने के लिये शुभ-अशुभ की आवश्यकता नहीं रहती; उसीप्रकार शरीर की, आहार की भी आवश्यकता नहीं रहती। ऐसा स्वाधीन चैतन्यजीवन है।

अन्य सब पदार्थों के बिना, राग के बिना अकेले-अकेले भी जीव में ज्ञान-दर्शन उपयोग तो होता रहता है। तुम दूसरों से भिन्न स्वयंभू स्वालंबी शाश्वत् हो—ऐसा उपयोग द्वारा निरंतर जानते रहो... प्रतिक्षण-प्रतिसमय जानते रहो... और तुम्हारा वह अबाधित उपयोगस्वरूप शुभाशुभरहित-श्रमरहित होने से उसी में विश्राम करो; इससे अपने सर्व प्रदेश में तुम्हें आनंद होगा। यह आनंद अतीन्द्रिय है; शुभ-अशुभ राग-द्वेष के बिना ही ऐसा आनंदजीवन जिया जाता है; तो फिर शुभाशुभ का व्यर्थ परिश्रम किसलिये करना? शुभाशुभ रहित ऐसे आनंद का अपने में ही अनुभव किया, इसलिये उस आनंद के लिये इन्द्रियों की या उनके विषयों की आवश्यकता भासित न हुई, इसलिये उनसे भेदज्ञान हुआ-भिन्नता हुई। पर से भिन्न होकर अपने उपयोगस्वरूप में विश्राम लेने से जिस आनंद का अनुभव किया, वह आनंद बाह्य विषयों में से नहीं लिया, परंतु अपने सत्, स्वावलंबी चेतनस्वरूप का अबाधित वेदन करके उसमें से वह आनंद लिया है। इसप्रकार आत्मा का स्वाधीन जीवन शाश्वत् भी है और आनंदमय भी है। ऐसा अमर-आनंदजीवन ज्ञान द्वारा प्राप्त हुआ।

अतीन्द्रिय आत्मिक अकर्मक (शुभ-अशुभ कर्म रहित) निर्दोष मोक्षमय एवं बंधन रहित ऐसे आनंद का अपने में अनुभव किया; और नित्य पदार्थ के नित्य स्वरूप के आधार से (अरूपी चेतन असंख्यप्रदेश के आधार से) होने के कारण वह आनंद भी नित्य बाधा रहित हुआ; अन्य पदार्थ का अवलंबन उस आनंद में नहीं रहा। ऐसे स्वाधीन आनंदरूप तुम स्वयं ही हो।

यहाँ ऐसा जानना कि—जब तुम ऐसे स्वपदार्थ के निर्णय से बुद्धिपूर्वक बाधाओं की कल्पना नहीं करोगे, तब कभी अति विवेक के कारण निर्विकल्प हो जाओगे; क्योंकि बाह्य पदार्थों के लिये जो विकल्प थे, उनकी आवश्यकता ही भासित नहीं हुई, इसलिये इन्द्रियाँ-मन उनके विषयों के प्रति संकल्प-विकल्पवान नहीं हुए, और उपयोग उनसे विमुख होकर निजस्वरूप में एकाग्र रहा। समस्त बाह्य पदार्थों से भिन्न अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से ही प्रयोजनवान होने के कारण अन्य की चिंता का व्यापार जब अटक जाता है, तब वीतराग उपयोग निजस्वरूप में युक्त होकर आनंद का वेदन करता है। प्रकाश होते ही अंधकार उत्पन्न नहीं होता; अंधकार के पश्चात् शून्य नहीं किंतु प्रकाश है, उसीप्रकार अन्य की चिंता के अभाव में शून्य नहीं परंतु अपने असंख्यप्रदेश में निजस्वरूप का आनंद है, अनंत गुण के स्वाद का अत्यंत मधुर आस्वादन है।

इसप्रकार एक बार निर्विकल्प होकर उपयोग-जीवन को जाना और निजस्वरूप के आनंद का नमूना चखा; परंतु अभी पूर्ण वीतरागता एवं पूर्ण आनंद नहीं है, इसलिये किंचित् राग और दु:ख भी होता है। परपदार्थ का लक्ष करने से अशुभ एवं शुभभाव होते हैं और उतनी आकुलता होने से दु:ख है। इसप्रकार एक ओर थोड़ा दु:ख और दूसरी ओर अपने आत्मपदार्थ को अबाधित निर्णय में लेने के कारण उसके अवलंबन से अतीन्द्रिय सुख—ऐसी दोनों धाराएँ मिश्ररूप चलेंगी, तथापि अपने चेतनभाव से जीनेरूप स्वाधीन जीवन पसंद किया है, इसलिये शुभ-अशुभभावों की या उनके आलंबनरूप बाह्य विषयों की रुचि छूट गई है, उनमें कहीं अपना जीवन या सुख भासित नहीं होता। शरीररहित, आहाररहित मुझे अपना आत्मजीवन मिला है, इसलिये सुख के लिये अब कुछ भी ढूँढ़ना नहीं रहा। शरीर आया और छूट गया—वह कहीं मेरा जीवन नहीं है, मेरा जीवन तो शरीररहित अनादि-अनंत है, स्वयंसिद्ध अपने से ही है। ऐसा दीर्घ और सुखी जीवन आहार बिना जिया जा सकता है, राग के बिना जिया जा सकता है; क्योंकि स्ववस्तु का अस्तित्व ही ऐसा है जो चेतनामय और सुखमय बनी रहे। उसे रहने के लिये-टिकने के लिये-जीने के लिये किसी अन्य की आवश्यकता नहीं रहती। अनंत सिद्ध भगवंत ऐसा जीवन सदाकाल जीते हैं।

ऐसा सुखी जीवन जिस आत्मभाव से प्राप्त हो, उसका नाम धर्म।

धर्म अर्थात् सुख... और सुख अर्थात् आत्मा का धर्म।

धर्म द्वारा ही महा आनंद से परिपूर्ण अमर-जीवन प्राप्त होता है।

आत्मगुणों की मीठी-मधुर बात

ज्यां चेतन त्यां सर्व गुण, केवली बोले अेम,
प्रगट अनुभव आत्मनो, निमल करो सप्रेम... रे...
चैतन्य प्रभु! अमृत बरस्या छे तारा आत्ममां....

योगसार की यह ८४वीं गाथा पूज्य स्वामीजी को अत्यंत प्रिय है। वे बारंबार उसे बोलकर चैतन्यरस का मंथन करते हैं... और जब कभी प्रवचन में मधुर कंठ से गाकर उसका विवेचन करते हैं, तब श्रोताजन मानों अमृतरस में डूबकर आत्म-विभोर हो उठते हैं। यहाँ उसकी थोड़ी झलक देखिये।

हे जीव! अपने चेतन को ग्रहण करने से उसमें सर्व गुणों का ग्रहण हो जाता है। अनंत गुण की अनुभूति में विकल्प को अवकाश नहीं है।

जगत में कोई सुंदरता हो, कोई पवित्रता हो तो वह सब तेरे आत्मा में विद्यमान है। एक आत्मा में अंतर्मुखदृष्टि करके अनुभव करने से उसमें अनंत गुणों की निर्मलता एकसाथ प्रगट होती है। चेतनमय आत्मा की अनुभूति में सर्व गुणों की अनुभूति आ जाती है। एक-एक गुण के हिसाब से आत्मा के अनंत गुणों को पकड़ना चाहे तो अनंत काल में भी पकड़ में नहीं आ सकते; अनंत गुणों से अभेद आत्मा में उपयोग लगाने से अनंत गुण स्फुट-प्रगट अनुभव में आते हैं। भाई, ऐसे आत्मा के अनुभव की रुचि और उत्साह कर। विकल्प की, राग की, या बाह्य की रुचि करने से तेरे अनंत गुणों के पिण्ड का अनादर होता है। अरे, अनंत गुण तुझमें भरे हैं, जिनका ग्रहण विकल्प द्वारा नहीं हो सकता। इसलिये निश्चय होकर, बाह्य में से उपयोग को समेटकर अंतर में लगाओ। अंतर में उपयोग लगाने से ध्यान में स्पष्टरूप-प्रगटरूप से अनंत गुणों की निर्मलता का अनुभव होता है; उसमें मोक्षमार्ग का समावेश हो जाता है। अहा, अनंत गुणों का अनुभव हो, उसके अतीन्द्रिय आनंद की क्या बात!

सम्यग्दर्शन होने पर ऐसी दशा हो जाती है। सम्यग्दर्शन की गंभीरता की लोगों को खबर नहीं है... जहाँ अनंत गुणों का समुद्र एक साथ निर्मलरूप से उल्लसित हुआ है और जिसमें किसी विकल्प के प्रवेश का अवकाश नहीं है—ऐसी अनुभूति सम्यग्दृष्टि को होती है।

भाई, एक बार अपनी दृष्टि को राग के ऊपर से उठाकर अपने अनंत गुणों के पिण्ड पर दृष्टि डाल! केवली भगवान ने जो अनंत गुण देखे हैं, वे सब गुण तुझमें भरे हैं; सिद्ध भगवंतों को जितने पवित्र गुण प्रगट हुए हैं, वे सब गुण तेरे आत्मा में विद्यमान हैं। उनका परम प्रेम करके प्रगट अनुभव कर। उनके अनुभव से आत्मा में आनंद का अमृत बरसेगा। वाह! आत्मा के अनंत गुण बतलाकर संतों ने पंचम काल में अमृत बरसाया है।

ज्यों चेतना त्यां अनंतगुण, केवली बोले अेम,
प्रगट अनुभव आतमा, निर्मल करो सप्रेम रे...
चैतन्य प्रभु...
चैतन्य सम्पदा रे तारा धाममां...
अमृत बरस्या रे पंचमकालमां....

चैतन्य का परम प्रेम प्रगट करने से परम समभावरूप सामायिक होती है, परभावों के परित्यागरूप प्रतिक्रमण होता है; समस्त दोषों का नाश होकर निर्मलता प्रगट होती है। इसप्रकार अंतरस्वरूप की अनुभूति में सर्व गुण प्रगट होते हैं। अहा, अनुभूति में क्या शेष रहता है! संपूर्ण आत्मा अपनी समस्त संपदासहित अनुभूति में समा जाता है। ऐसी अनुभूति करे, तभी केवली भगवान की परमार्थस्तुति होती है; तभी ज्ञानी की सच्ची पहिचान होती है।

भगवान कहते हैं कि—भाई! राग से भिन्न होकर अनंतगुणयुक्त अपने आत्मा का अनुभव कर तो तूने हमारी सच्ची स्तुति की है। यदि विकल्प की महिमा में अटक जाये तो वह सर्वज्ञ की सच्ची स्तुति नहीं जानता। समस्त आराधना शुद्धचैतन्य की अनुभूति में ही समा जाती है। भगवान ऐसा नहीं कहते कि तू हमारी ओर देखता रह और विकल्प करता रह; भगवान तो कहते हैं कि तू अपनी ओर देख; क्योंकि जैसे गुण हम में है, ऐसे ही अनंत गुण तुझमें हैं। इसप्रकार अंतर्मुख स्वभाव में नमन करना ही सच्ची गुरुवंदना है और वही सच्ची गुरुभक्ति है।

अहा, संत आत्मा के गुणों की मीठी-मधुर बात सुनाते हैं। अरे जीव! परम प्रीति से अपने गुणों का श्रवण करके उसे अनुभव में ले। प्रथम तो उसका ऐसा उल्लास प्रगट कर कि

अन्य सबका उल्लास छूट जाये और परिणति का लक्ष अंतर्गुणों में प्रविष्ट हो जाये। ऐसे आत्मा की अनुभूति करने से तेरी परिणति में अनंत गुणों की अमृतधारा बरसेगी।

जगत में कहीं अच्छा न लगे तो अंतर में जा! कहीं अच्छा न लगे तो आत्मा में अच्छा लगा!....वहाँ आनंद भरा है, इसलिए वहाँ अच्छा लगेगा। जगत में जीव को अच्छा लगे, ऐसा कोई स्थान हो तो आत्मा ही है; जगत में आत्मा के सिवा अन्य कहीं अच्छा नहीं लग सकता।—'ज्यां चेतन त्यां सर्व गुण'—उस चैतन्यस्वभाव में तू लीन हो, ऐसा संत बारंबार ललकारकर कहते हैं। उनकी ललकार सुनकर अन्य कोई तेरे साथ न आये तो तू अकेला ही उस मार्ग पर चला जा... अकेला होकर अंतर में आत्मा के आनंद का अनुभव कर।

अरे, अनुभव में जहाँ इन्द्रियों का और मन का भी साथ नहीं है, वहाँ दूसरे की क्या बात! अकेला होकर (विकल्प रहित होकर) एकत्वस्वरूप आत्मा को अनुभव में ले। आत्मा, आत्मा द्वारा ही अनुभव में आता है, इसलिये सर्वसंग रहित होकर अकेला-अकेला स्वभाव का ही मंथन कर... उसी में परिणति को बारंबार लगा... तुझे शीघ्र ही मुक्ति की प्राप्ति होगी... प्रगट आनंद का अनुभव होगा।

श्रावक से कहते हैं कि हे श्रावक! अपने उपयोग को आत्मस्वरूप में युक्त करके शुद्धरत्नत्रय को भज! यही रत्नत्रय की परमभक्ति है। शुद्ध आत्मा को भजने से अनंत गुणों का सेवन एक साथ होता है, क्योंकि 'ज्यां चेतन त्यां सर्व गुण:' अनंत गुणों के अद्भुत चैतन्य का समावेश स्वानुभव में होता है।

विविध वचनामृत

(लेखांक : २१)

(२६०) आत्मा का चिंतन कर

हे आत्मार्थी ! अपने आनंदमय आत्मतत्त्व को साधने के लिये अन्य सब चिन्ताओं को छोड़कर आत्मा का चिन्तवन कर; जगत की चिंता में रुकेगा तो आत्मा को कहाँ से साधेगा ? अत: सर्वत्र निश्चिंत होकर शांत और निश्चल परिणाम से निजशुद्धात्मा का चिंतन कर। उस एक के ही चिंतन द्वारा आनंदपूर्वक तू अपने आत्मा को अवश्य साधेगा।

(२६१) आत्मार्थी की प्रवृत्ति

आत्मार्थी जीव निष्प्रयोजन प्रवृत्ति में नहीं पड़ता और जिसमें अपने आत्महित की पुष्टि हो, ऐसी सत्संगरूप प्रवृत्ति में उत्साह सहित वर्तता है।

(२६२) हे जीव! तू अपनी शक्ति को व्यर्थ न गँवा!

जगत में अनुकूल-प्रतिकूल सामग्री और प्रसंग आने पर, हे जीव ! तू चिंता के सागर में प्रवेश न कर। किंतु जिसमें जगत संबंधी किसी बात का प्रवेश नहीं है और जो सदा आनंदमय है, ऐसे अपने ज्ञान समुद्र में मग्न रह, उसकी चिंता कर। जगत के कोलाहल की व्यर्थ चिंता में अपना समय-अपनी शक्ति का व्यय न कर, सर्व शक्ति को निजस्वरूप के चिंतन में लगा।

(२६३) उपयोग को अंदर में लगा

तेरे ज्ञान और आनंद का धाम कहाँ है ? तेरा स्वस्थान जो असंख्यप्रदेशी परम आत्मा, वही तेरा इष्ट धाम है, उसी में तेरा ज्ञान और आनंद भरा हुआ है। इसलिए अन्य सभी ओर से इन्द्रिय-मन की ओर दौड़नेवाली वृत्तियों को रोककर, उपयोग को अंदर में लगा !—यही तेरे इष्ट का उपदेश है। पाँच इन्द्रियों के बाह्य विषयों में-अशुभ या शुभ में कहीं तेरा इष्ट नहीं है। अत: बाहर की वृत्ति का उत्साह छोड़कर अंतर में इष्ट स्वभाव में उत्साह कर-कि जहाँ से तुझे सच्चा आनंद मिलेगा।

(२६४) ज्ञान, केवली भगवान का और साधक का

जिसप्रकार अन्य ऐसे रागादिक को जानने पर भगवान केवली का ज्ञान राग-द्वेषमय

नहीं होता, उसीप्रकार अपने से अन्य ऐसे राग-द्वेष को जानते हुए साधक ज्ञानी का ज्ञान भी उस राग-द्वेषमय नहीं होता। इसलिये सम्यग्ज्ञान, वह केवलज्ञान की जाति का स्वाश्रित ज्ञान है क्योंकि वह राग-द्वेषरहित ही है। ऐसे ज्ञान की पहिचान करने से ज्ञानी की पहिचान होती है।

(२६५) आत्मा की शक्ति और शब्दों की शक्ति

आत्मा की शक्ति स्व-पर को जानने की है, किंतु स्व-पर की कथा कहने की शक्ति आत्मा में नहीं है।

शब्दों में स्व-पर की कथा कहने की शक्ति है, किन्तु स्व-पर को जानने की शक्ति नहीं है।

जो जाननेवाला है, वह बोलनेवाला नहीं है; जो बोलनेवाला है, वह जाननेवाला नहीं है। ज्ञान और वाणी दोनों के कार्य भिन्न-भिन्न हैं; एक तीनों काल चेतन है और दूसरा तीनों काल जड़ है; कोई किसी का कर्ता नहीं है।

(२६६) अंश और अंशी की एक जाति

जिसप्रकार ज्ञानस्वभाव सदा मुक्त है, उसीप्रकार उसका व्यक्त प्रगट पर्यायरूप ज्ञानांश भी मुक्त ही है; जिसप्रकार स्वभाव में राग एकमेक नहीं है; उसीप्रकार व्यक्त ज्ञानांश में भी राग एकमेक (-तन्मय) नहीं है।

अंश और अंशी की एक जाति है।

ज्ञानांश स्वभाव के साथ संबंध बिना कभी नहीं हो सकता।

ज्ञानांश विकार के साथ संबंध बिना भी होता है।

इसलिये हे जीव ! जिसके बिना तेरा ज्ञानांश कभी नहीं होता, ऐसे अपने स्वभाव के रूप में तू अपने को देख। और जिसके बिना तेरा ज्ञानांश होता है, ऐसे परभावों को निजस्वरूप से न देख; उनकी विद्यमानता उनसे भिन्न ही है।

(२६७) जैसा आनंद परमात्मा का, वैसा ही आनंद धर्मात्मा का

जिसप्रकार परमात्मा का आनंद पर की अपेक्षा रहित है; उसीप्रकार धर्मात्मा का आनंद भी पर की अपेक्षा रहित है। दोनों के आनंद की जाति एक है। दोनों का आनंद आत्मा के स्वभाव में से प्रगट हुआ है।

(२६८) स्वयं अपने को ध्याने से...

अहा, आनंदस्वभावी मैं, मेरे समान सुखी कौन होगा कि जिसे सुख के लिये किसी बाह्य साधन की आवश्यकता न हो। बाह्य साधन के बिना स्वयं अपने से अपने में ही अतीन्द्रिय सुख का अनुभव करूँ—ऐसी मेरी शक्ति है। सुख का धाम मैं ही हूँ। सुख के लिये मुझे कहीं बाहर देखना पड़े, ऐसा नहीं है।—ऐसे निर्णय से धर्मी जीव स्वसन्मुख होकर इष्ट को ध्याता है। जिसप्रकार अपनी प्यारी माता का दूध पी-पी कर बालक पुष्ट होता है, उसीप्रकार धर्मी को परम इष्ट जो अपना आत्मा है, उसे ध्या-ध्या कर वह अपने ज्ञान-आनंद को पुष्ट करता है। स्वयं अपने को ही ध्याने से परम आनंद का अनुभव होता है।

अरे चेतन हंस! तू सिद्ध भगवंतों के निकट रहनेवाला, तूने इस देह पिंजरे में कहाँ निवास किया है? चेतन प्रभु होकर इस जड़ पिंजरे में बंद होना तुझे कैसे अच्छा लगा? ज्ञानपंख लगाकर अनुभव के आकाश में उड़... और पहुँच जा अपने सिद्धालय में।

गृहस्थपना दान से ही शोभता है

धर्म की प्रभावना आदि के लिये दान करने का प्रसंग आये, वहाँ धर्म के प्रेमी जीव का हृदय झनझनाता हुआ उदारता से उछल जाता है कि—अहो, ऐसे उत्तम कार्य के लिये जितना धन खर्च किया जावे उतना सफल है। जो धन अपने हित के लिये काम न आये और बंधन का ही कारण हो—वह धन किस काम का?—ऐसे धन से धनवानपना कौन कहे? सच्चा धनवान तो वह है कि जो उदारतापूर्वक धर्म कार्यों में अपनी लक्ष्मी खर्च करता है।

श्रावक के हमेशा के जो छः कर्तव्य हैं, उनमें से दान का यह वर्णन चल रहा है—

दानेनैव गृहस्थता गुणवती लोकद्वयोद्योतिका
नैव स्यान्ननु तद्विना धनवतो लोकद्वयध्वंसकृत्।
दुर्व्यापारशतेषु सत्सु गृहिणः पापं यदुत्पद्यते
तन्नाशाय शशांकशुभ्रयशसे दानं न चान्यत्परम्॥१४॥

धनवान मनुष्यों का गृहस्थपना दान द्वारा ही लाभदायक है, तथा दान द्वारा ही इस लोक और परलोक दोनों का उद्योत होता है; दानरहित गृहस्थपना तो दोनों लोकों का ध्वंश करनेवाला है। गृहस्थ को सैकड़ों प्रकार के दुर्व्यापार से जो पाप होता है, उसका नाश दान द्वारा ही होता है और दान द्वारा चंद्र समान उज्ज्वल यश प्राप्त होता है। इसप्रकार पाप का नाश और यश की प्राप्ति के लिये गृहस्थ को सत्पात्र दान के समान अन्य कुछ नहीं। इसलिये अपना हित चाहनेवाले गृहस्थों को दान द्वारा गृहस्थपना सफल करना चाहिये।

देव-गुरु-शास्त्र की तरफ के उल्लास के द्वारा संसार की ओर उल्लास कम होता है, तब वहाँ दानादि के शुभभाव आते हैं, इसलिये गृहस्थों को पाप घटाकर शुभभाव करना चाहिये—ऐसा उपदेश है। तू शुभभाव कर—ऐसा उपदेश व्यवहार में होता है, परमार्थ से तो राग का कर्तृत्व आत्मा के स्वभाव में नहीं। राग के कण का भी कर्तृत्व माने अथवा उसे

मोक्षमार्ग माने तो मिथ्यादृष्टि है—ऐसा शुद्धदृष्टि के वर्णन में आता है; ऐसी दृष्टिपूर्वक राग की बहुत मंदता धर्मी को होती है। रागरहित स्वभाव दृष्टि में ले और राग घटे नहीं, ऐसा कैसे बने? यहाँ कहते हैं कि जिसे रागादि शुभभाव का भी पता नहीं, मात्र पापभाव में ही पड़ा है, उसकी तो इस लोक में भी शोभा नहीं और परलोक में भी उसे उत्तम गति नहीं मिलती। पाप से बचने के लिये पात्र दान ही उत्तम मार्ग है। मुनिवरों को तो परिग्रह ही नहीं, उनको तो अशुभ परिणति छूट गई है और बहुत आत्मरमणता वर्तती है—उनकी तो क्या बात? यहाँ तो गृहस्थ के लिये उपदेश है। जिसमें अनेक प्रकार के पाप के प्रसंग हैं, ऐसे गृहस्थपने में पाप से बचने के लिये पूजा-दान-स्वाध्याय आदि कर्तव्य हैं। तीव्र लोभी प्राणी को संबोधन करके कार्तिकेयस्वामी तो कहते हैं कि अरे जीव! यह लक्ष्मी चंचल है, इसकी ममता तू छोड़। तू तीव्र लोभ से अन्य के लिये (देव-गुरु-शास्त्र के शुभ कार्यों में) तो लक्ष्मी नहीं खर्चता, परंतु तेरे देह के लिये तो खर्च। इतनी तो ममता घटा।—इसप्रकार की लक्ष्मी की ममता घटाना सीखेगा तो कभी शुभकर्मों में भी लोभ घटाने का प्रसंग आ जायेगा। यहाँ तो धर्म के निमित्तों के प्रति उल्लास भाव से जो दानादि होता है, उसकी ही मुख्य बात है। जिसे धर्म का लक्ष्य नहीं और कुछ मंद राग से दानादि करे तो साधारण पुण्य बँधता है; परंतु यहाँ तो धर्म के लक्ष्यसहित के पुण्य की मुख्यता है; अर्थात् अधिकार के प्रारंभ में ही अरहंतदेव की पहचान की बात ली थी। शास्त्र में तो जिस समय जो प्रकरण चलता हो, उस समय उसका ही विस्तार से वर्णन होता है, ब्रह्मचर्य के समय ब्रह्मचर्य का वर्णन होता है, और दान के समय दान का वर्णन होता है; मूलभूत सिद्धांत लक्ष्य में रखकर प्रत्येक कथन का भाव समझना चाहिये।

लोगों में तो जिसके पास अधिक धन हो, उसे लोग धनवान कहते हैं; परंतु शास्त्रकार कहते हैं कि जो लोभी है, उसके पास चाहे जितना धन पड़ा हो तो भी वह धनवान नहीं परंतु रंक है, क्योंकि जो धन उदारतापूर्वक सत् कार्य में खर्च करने के काम न आवे, अपने हित के लिये काम न आवे, मात्र पापबंध का ही कारण हो, वह धन किस काम का? और ऐसे धन से धनवानपना कौन माने? सच्चा धनवान तो वह है कि जो उदारतापूर्वक अपनी लक्ष्मी को दान में खर्च करता है। भले लक्ष्मी थोड़ी हो परंतु जिसका हृदय उदार है, वह धनवान है और लक्ष्मी का ढेर होते हुए भी जिसका हृदय ओछा है-कंजूस है, वह दरिद्री है। एक कहावत है कि—

रणचढ़ा रजपूत छुपे नहीं....
दाता छुपे नहीं घर माँगन आये...

जैसे युद्ध में तलवार चलाने का प्रसंग आवे, वहाँ राजपूत की शूरवीरता छिपी नहीं रहती, वह घर के कोने में चुपचाप नहीं बैठता, उसका शौर्य उछल जाता है। उसीप्रकार जहाँ दान का प्रसंग आता है, वहाँ उदार-हृदय मनुष्य का हृदय छिपा नहीं रहता; धर्म के प्रसंग में प्रभावना आदि के लिये दान करने का प्रसंग आये, वहाँ धर्म के प्रेमी जीव का हृदय झनझनाहट करता उदारता से उछल जाता है; वह बचने का बहाना नहीं ढूँढ़ता, अथवा उसे बार-बार कहना नहीं पड़ता परंतु अपने उत्साह से ही दान आदि करता है कि अहो, ऐसे उत्तम कार्य के लिये जितना दान करूँ, उतना कम है। मेरी जो लक्ष्मी ऐसे कार्य में खर्च हो, वह सफल है! इसप्रकार श्रावक, दान द्वारा अपने गृहस्थपने को शोभित करता है।

सोनगढ़ में

प्रौढ़ जैन-शिक्षण-शिविर

प्रतिवर्ष की भाँति इस वर्ष भी सोनगढ़ में श्रावण शुक्ला-५ मंगलवार तारीख ३०-७-६८ से जैनधर्म शिक्षा की कक्षाएँ आरंभ होंगी और भाद्रपद कृष्णा ९ रविवार तारीख १८-८-६८ तक चलेंगी। उत्तम कक्षा में 'जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला' तथा 'जैनतत्त्व मीमांसा' पढ़ाई जायेगी। शिक्षण-शिविर में आनेवाले जिन भाईयों के पास उपरोक्त पुस्तकें हों वे अवश्य साथ लेते आवें।

विशेष:—यह शिक्षण-शिविर केवल पुरुषों के लिये है। महिलायें कक्षा में सम्मिलित नहीं हो सकेंगी।

आनेवाले बन्धुओं से निवेदन है कि—अपने साथ बिस्तर आदि उपयोगी वस्तुएँ अवश्य लेते आवें।

दस लक्षण-पर्यूषण पर्व

पर्वाधिराज-दस लक्षण पर्व भाद्रपद शुक्ला ४, मंगलवार तारीख २७-८-६८ से प्रारंभ होकर भाद्रपद शुक्ला १४, गुरुवार तारीख ५-९-६८ को समाप्त होंगे। (बीच में एक तिथि का क्षय होने के कारण चतुर्थी से प्रारंभ होंगे।)

'माँ मैं चंद्र खिलौना लूँगा....'

[यहाँ पूज्य स्वामीजी के प्रवचन में से एक सुंदर कथा दी जा रही है।]

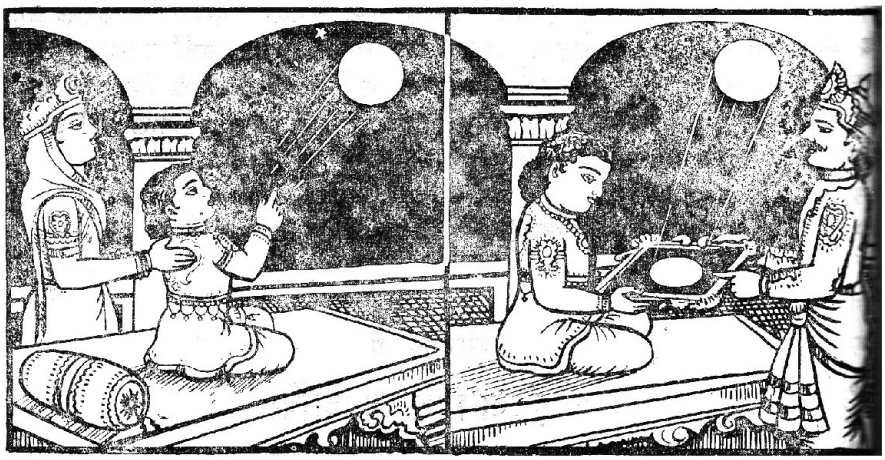

बचपन में पढ़ते थे, तब पाठ्य-पुस्तक में एक कविता आती थी कि—

'माँ मैं चंद्र खिलौना लूँगा...'

इसमें रामचंद्रजी के बचपन की एक घटना है।

एकबार रामचंदजी राजमहल की छत पर खेल रहे थे और आकाश में पूर्णिमा का चंद्र खिल रहा था... रामचंद्रजी की दृष्टि चंद्रमा पर पड़ी और उनके मन में उल्लास आया कि यह चंद्रमा कैसा चमक रहा है! यदि यह मुझे मिल जाये तो खेलने में कितना मजा आ जाये! राम तो उछल-उछलकर चंद्रमा की ओर हाथ बढ़ाने लगे... परंतु जब चंद्रमा हाथ में नहीं आया, तब वे रोने लगे... उन्हें चुप करने का सबने खूब प्रयत्न किया... परंतु यह तो राम की हठ थी... वे चंद्र को लिये बिना कैसे मानते.... सबका प्रयत्न निष्फल लगा।

अंत में मंत्रीजी आये और उन्होंने देखा कि रामचंद्रजी चंद्रमा की ओर हाथ बढ़ा-बढ़ाकर रो रहे हैं... वे तुरंत समझ गये कि वे चंद्रमा माँगते हैं। उन्होंने एक स्वच्छ दर्पण मँगवाया और बराबर चंद्रमा की ओर रखकर रामचंद्रजी के हाथ में दिया... रामचंद्रजी ने दर्पण में देखा और चंद को देखकर प्रसन्न हो उठे...

यह तो दृष्टांत है। रामचंद्रजी धर्मात्मा थे; उनके इस प्रसंग को लेकर यह सिद्धांत समझना है कि धर्मी के भाव कैसे होते हैं।

मैं अपना सिद्धपद लूँगा...

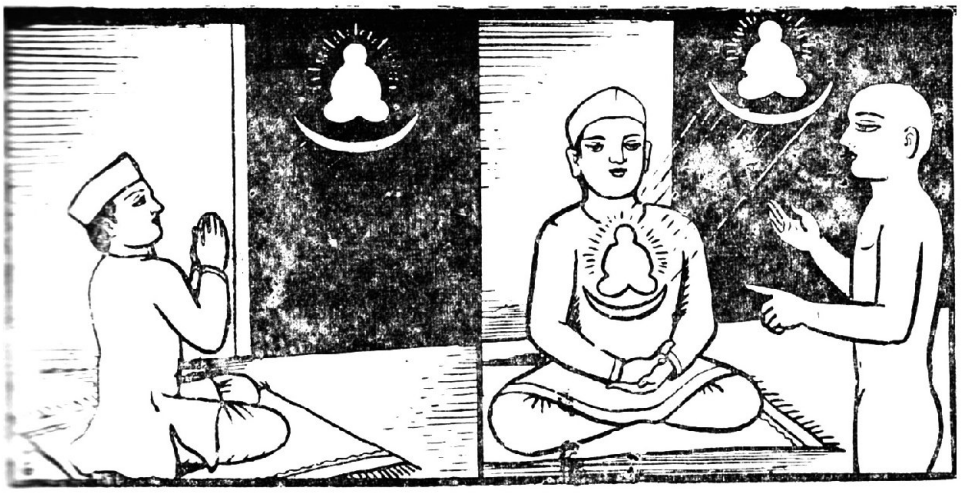

सिद्ध भगवान के परम सुख की बात सुनते ही जिज्ञासु को सिद्धपद की भावना जागृत हुई... वह सिद्ध भगवान की ओर देखकर उन्हें बुलाता है कि—हे सिद्ध भगवंत! यहाँ पधारो! परंतु सिद्ध भगवान तो ऊपर सिद्धालय में विराजमान हैं... वे कहीं नीचे आते होंगे? नहीं आते; और सिद्ध भगवान को देखे बिना जिज्ञासु को समाधान नहीं हो सकता।

अंत में किन्हीं अनुभवी धर्मात्मा से उसकी भेंट हो गई। उन्होंने कहा कि—तू अपने में देख तो तुझे सिद्धपद दिखायी देगा। अपने ज्ञानदर्पण को स्वच्छ करके उसमें देख तो तुझे सिद्ध भगवान अपने में दिखायी देंगे। जब उसने अंतर्मुख होकर सम्यग्ज्ञानरूपी दर्पण में देखा तो उसे अपने में सिद्ध भगवान दिखायी दिये; अपना स्वरूप ही सिद्धस्वरूप से देखकर धर्मी जीव को परम प्रसन्नता हुई—परम आनंद हुआ।

—इसका तात्पर्य यह है कि हे जीव! तेरा सिद्धपद तेरे ही पास है, बाह्य में नहीं है। इसलिये अपने पद को अपने में ही ढूँढ.... अंतर्मुख हो।

(कथा समाप्त)

बोलो, भगवान रामचंद्र की जय....

आतमराम की जय....

दर्पण में क्या दिखायी देता है ?

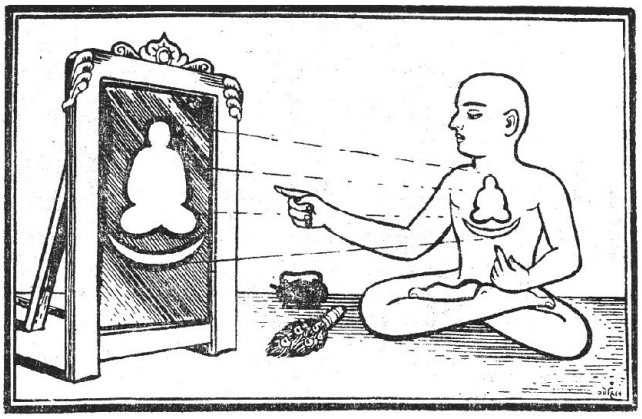

वंदित्तु सव्वसिद्धे—ऐसा कहकर पहली गाथा में आचार्यदेव ने सिद्ध भगवंतों को नमस्कार किया है; वे कहते हैं कि—हे भव्य! मैं अपने और तेरे आत्मा में सिद्धों की स्थापना करता हूँ। साध्यरूप जो शुद्ध आत्मा, उसे देखने के लिये सिद्ध भगवान स्वच्छ दर्पण समान हैं। जिसप्रकार स्वच्छ दर्पण में अपना रूप जैसा हो, वैसा स्पष्ट दिखायी देता है; उसीप्रकार सिद्ध भगवानरूपी स्वच्छ दर्पण में देखने से अपना जैसा शुद्धस्वरूप है, वैसा स्पष्ट दिखायी देता है। इसप्रकार आत्मा में सिद्धों की स्थापनारूप अपूर्व मंगल करके आचार्यदेव ने समयसार का प्रारंभ किया है।

जैसे शुद्ध यह सिद्ध भगवान हैं, वैसा ही शुद्धस्वरूप मुझमें है।—ऐसी स्वसन्मुखता द्वारा प्रतीत करे, तब सिद्ध भगवान की परमार्थस्तुति होती है। सिद्ध भगवान की परमार्थ पहिचान एवं परमार्थ वंदना उनकी ओर देखने से नहीं होती परंतु अपने आत्मा में अंतर्मुख हो, तभी सिद्ध भगवान की परमार्थ पहिचान और परमार्थ वंदना होती है।

समयसार अर्थात् साधकभाव का शांत झरना। इस समयसार में कहे हुए भावों के मंथन द्वारा साधक को स्वानुभूति में शुद्ध आत्मा प्रकाशमान होता है। यह समयसार तो शुद्ध आत्मस्वरूप दिखलानेवाला दर्पण है। जो सिद्ध को जाने, वह शुद्ध आत्मा को जानता है; जो अरिहंत को पहिचाने, उसे शुद्ध आत्मा की पहिचान है... परिणति रागादि से पृथक् होकर शुद्धात्मोन्मुख हो, तभी अरिहंत-सिद्ध आदि की सच्ची प्रतीति होती है।

परम शांतिदायिनी

अध्यात्म-भावना

[आत्मधर्म की सरल लेखमाला]

लेखांक ३९] [अंक २७८ के आगे

भगवान श्री पूज्यपादस्वामीरचित 'समाधिशतक' पर पूज्य स्वामीजी के अध्यात्मभावना भरपूर वैराग्यप्रेरक प्रवचनों का सार।

[वीर सं. २४८२ श्रावण कृष्णा छठ-सातम, समाधिशतक गाथा ७१]

भेदविज्ञान द्वारा आत्मा को समस्त परद्रव्यों से भिन्न जानकर, उसमें जो एकाग्रता करता है, उसी को नियम से मुक्ति होती है और जो उसमें एकाग्रता नहीं करता, उसे मुक्ति नहीं होती—ऐसा अब कहते हैं:—

मुक्तिरेकान्तिकी तस्य चित्त यस्याचला धृतिः।
तस्य नैकान्तिकी मुक्तिर्यस्य नास्त्यचला धृतिः॥७१॥

चैतन्यस्वरूप में जो अचलरूप से एकाग्रता करता है, उसी को नियम से-एकांत मुक्ति होती है, और इसके अतिरिक्त जो व्यवहार में एकाग्रता करता है, उसे मुक्ति नहीं होती; ऐसा अनेकांत है। इसप्रकार शुद्धोपयोग से ही मुक्ति होती है; शुभराग से किसी को कभी मुक्ति नहीं होती।

देखो, यह मुक्ति का नियम! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा अवश्य मुक्ति होती है; इसके अतिरिक्त पंच महाव्रतादि का शुभराग, वह कहीं मुक्ति का कारण नहीं है। जहाँ शुद्धरत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग हो, वहाँ दिगम्बरत्व आदि भी अवश्य होते हैं और वहाँ मुक्ति भी अवश्य होती है; परंतु जहाँ शुद्धरत्नत्रय नहीं है, वहाँ मुक्ति होती ही नहीं। इसप्रकार चैतन्यस्वरूप में एकाग्रतारूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह नियम से-एकांतरूप से-मोक्ष का कारण है।

प्रथम तो, जिसने शरीरादि से भिन्न चैतन्यस्वरूप का ज्ञान किया हो—उसका दृढ़ निर्णय किया हो, उसी को उसमें एकाग्रता हो सकती है। चैतन्यराजा को जानकर उसकी सेवा (श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता) करने से अवश्य मोक्षसुख की प्राप्ति होती है। यहाँ तो 'एकान्तिकी

मुक्ति' कहकर मोक्ष का नियम बतलाया कि चैतन्यस्वरूप की अचल धारणा जिसके चित्त में है, वही जीव एकांत मुक्ति प्राप्त करता है; परंतु 'व्यवहार में-राग में एकाग्रतावाला जीव भी मुक्ति प्राप्त करता है'—ऐसा अनेकांत नहीं है। जिसका चित्त संशययुक्त है, कदाचित् रागादि से भी मुक्ति होगी—ऐसा जो मानता है और जिसने राग से पार चैतन्यतत्त्व को अचलरूप से श्रद्धा-ज्ञान में धारण नहीं किया है, वह कदापि मुक्ति प्राप्त नहीं करता।

नियमसार (कलश-१९४) में पद्मप्रभ मुनिराज कहते हैं कि—योगपरायण होने पर भी जिस जीव को कदाचित् भेद-विकल्प उत्पन्न होते हैं, उसकी अरहंतदेव के मत में मुक्ति होगी या नहीं, वह कौन जाने ? अर्थात् योगपरायण ऐसे मुनियों को भी जब तक विकल्प हैं, तब तक मुक्ति नहीं है; निर्विकल्प होकर स्वरूप में स्थित होंगे, तभी मुक्ति होगी। देखो, यह अरहंतदेव का कहा हुआ मोक्षमार्ग ! विकल्प को अरहंतदेव ने मोक्ष का साधन नहीं कहा है।

अहो ! मुक्ति का धाम तो यह चैतन्यतत्त्व है, उसमें एकाग्र होने पर ही मेरी मुक्ति होना है—ऐसा निर्णय करे तो अल्प काल में मुक्ति हो जाये। परंतु जहाँ निर्णय ही विपरीत हो—राग को धर्म का साधन मानता हो—वह राग में एकाग्रता से क्यों हटेगा ? और स्वभाव में एकाग्रता कहाँ से करेगा ? राग में एकाग्रता से तो राग की और संसार की उत्पत्ति होती है, परंतु मुक्ति नहीं होती। मुक्ति तो चैतन्य में एकाग्रता से ही होती है।

यहाँ तो सम्यग्दर्शन के उपरांत चैतन्य में लीनता की बात है। सम्यग्दर्शन के पश्चात् भी जब तक राग-द्वेष से चित्त अस्थिर-डाँवाडोल रहता है, तब तक मुक्ति नहीं होती; राग-द्वेष रहित होकर अंतरस्वरूप में लीन होकर स्थिर रहे, तभी मुक्ति होती है। भूमिकानुसार भक्ति आदि का भाव धर्मी को आता है परंतु वह मोक्ष का कारण नहीं है। चैतन्यस्वभाव में लीनता के बिना मुक्ति की प्राप्ति असंभव है ॥७१॥

✧✧✧

लोक-संसर्ग द्वारा चित्त की चंचलता बनी रहती है और चैतन्य में स्थिरता नहीं होती; इसलिये लोक-संसर्ग छोड़कर ही अंतर में आत्मस्वरूप के संवेदन में एकाग्रता होती है। जो लोक-संसर्ग नहीं छोड़ता, उसे चैतन्यस्वरूप में एकाग्रता नहीं होती; इसलिये योगीजन-साधक संत, चैतन्य में एकाग्रता के हेतु लोक-संसर्ग छोड़ते हैं—यह बात ७२ वीं गाथा में कहते हैं:—

जनेभ्योवाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः।
भवन्ति तस्मात्संसर्गजनैर्योगी ततस्त्यजेत्॥७२॥

लोगों के संसर्ग द्वारा वचन की प्रवृत्ति होती है, वचनप्रवृत्ति से मन व्यग्र होता है, चित्त चलायमान-अस्थिर होता है और चित्त की चंचलता होने से अनेक प्रकार के विकल्पों द्वारा मन क्षुब्ध होता है; इसलिये चैतन्यस्वरूप में संलग्न ऐसे योगियों को लौकिकजनों का संसर्ग छोड़ना चाहिये। लौकिकजनों के संसर्ग द्वारा चित्त की निश्चलता नहीं हो सकती।

यहाँ मुख्यरूप से मुनि को उद्देशकर कथन है; परंतु सबको अपनी भूमिका के अनुसार समझना चाहिये। जिसे एकांत में बैठकर आत्मा के विचार करने का भी अवकाश न हो और दिन-रात बाह्य प्रवृत्ति में लगा रहे तो वह आत्मा का अनुभव किसप्रकार करेगा? सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिये भी दो घड़ी जगत से दूर होकर, अंतर में अकेले चिदानंद-तत्त्व को लक्षगत करके स्वानुभव का प्रयत्न करे, तब सम्यग्दर्शन होता है। जिसे लोक का संग एवं बड़प्पन की रुचि हो, उसके परिणाम असंग चैतन्य की साधना में कैसे लगेंगे? भाई, लोकसंज्ञा से आत्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती। और सम्यग्दर्शन के पश्चात् मुनि को भी जितना लोकसंसर्ग हो, उतनी मन की अस्थिरता होती है और केवलज्ञान को रोकती है। स्वभावोन्मुख होने एवं स्वभाव में लीनता करने के लिये कहते हैं कि—लोगों के परिचय से मन की व्यग्रता होगी, इसलिये लोकसंग छोड़कर अपने स्वरूप में ही तू तत्पर हो। तेरा चैतन्य-लोक तो तुझमें है, उसका अवलोकन कर।

अहो, यह गहराई में छिपी हुई चैतन्यनिधि! उसे प्राप्त करके धर्मात्मा अकेला-अकेला अंतर में गुप्तरूप से उसका उपभोग करता है... धर्मात्मा के अंतर का अनुभव बाहर से दिखायी नहीं देता। अरे, जगत के लोगों को दिखाने का क्या काम है? धर्मात्मा के अंतर का अलौकिक अनुभव अंतर में ही समाया है। नियमसार में कहते हैं कि—जिसप्रकार कोई मनुष्य निधि प्राप्त करके अपने वतन में रहकर उसके फल को भोगता है; उसीप्रकार ज्ञानी परजनों के समूह को छोड़कर ज्ञाननिधि का उपभोग करते हैं। लोगों में किसी को गुप्त निधि की प्राप्ति हो जाये तो अत्यंत गुप्त रहकर उसका उपभोग करता है, ताकि कोई ले न जाये। उसीप्रकार गुरुप्रसाद से अपनी सरल ज्ञाननिधि को पाकर ज्ञानी स्वरूप के अनजान ऐसे परजनों के समूह को ध्यान में विघ्न का कारण समझकर छोड़ते हैं। इसप्रकार वे ज्ञान की रक्षा

करते हैं और निजगृह में गुप्तरूप से रहकर ध्यानगुफा में बैठे-बैठे स्वयं अकेले अपने आनंद-निधान का उपभोग करते हैं।

समयसार की ४९ वीं गाथा की टीका में श्री जयसेनाचार्य कहते हैं कि—'अनंतज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यस्वरूप जो शुद्धात्मा... वह दुर्लभ है, वह अपूर्व है और वही उपादेय है—ऐसा समझकर शुद्धात्मा की निर्विकल्प समाधि में उत्पन्न होनेवाले सुखामृतरस की अनुभूतिस्वरूप गहरी गिरिगुफा में बैठकर उसका ध्यान करना।'

[अनंतज्ञानदर्शनसुखवीर्यश्च यः स एव शुद्धात्मा... दुर्लभः स एवापूर्वः सचैवोपादेय इति मत्वा, निर्विकल्प... शुद्धात्मसमाधिसंजात सुखामृतरसानुभूतिलक्षणे गिरिगुहागह्वरे स्थित्वा सर्वतात्पर्येण ध्यातव्य।]

बाह्य से जंगल में जाकर बैठे और अंतर में अभी चैतन्य की अनुभूति क्या है, उसे जाने भी नहीं तो बाहर की गिरिगुफा से कहीं शांति मिल जाये—ऐसा नहीं है। इसलिये कहते हैं कि भाई, तेरे अंतर में शुद्धात्मा की अनुभूतिस्वरूप जो गहरी गिरिगुफा, उसमें जाकर शुद्धात्मा का ध्यान कर।

चैतन्य की गिरिगुफा ही शरणरूप है। लोक में भी सिंह आदि के भय से बचने के लिये गुफा की शरण लेते हैं। देखो! सती अंजना पर कलंक आया और जंगल में जाना पड़ा। जंगल में चलते-चलते थक जाती है, तब उसकी सखी बसंतमाला कहती है कि हे देवी! यहाँ वन में हिंसक पशुओं का भय है, इसलिये चलो, गुफा में ठहर जायें! ऐसा विचार करके 'पास' की एक गुफा में प्रवेश करती हैं तो ध्यान में लीन एक मुनिराज के दर्शन होते हैं। मुनि को देखते ही अंजना के आनंद का पार नहीं रहता। अहो! ऐसे घोर वन में महामुनि के दर्शन हुए... मानों पिता से भेंट हो गई... और जगत के दुःख भूल गये। उसीप्रकार संसार के दुःख से थके हुए जीव को बाह्यवृत्ति में तो राग-द्वेष और कषायों की आकुलता है, भय है। ज्ञानी कहते हैं कि हे भव्य! तू अन्तर्मुख हो... और अपनी चैतन्यगुफा में शरण ले; वह चैतन्यगुफा दूर नहीं परंतु निकट ही है। जहाँ ध्यान द्वारा अंतर की चैतन्यगुफा में प्रवेश किया, वहाँ महा आनंदरूप चैतन्यभगवान के दर्शन हुए....

एकत्वस्वभाव ज्ञानी को सुलभ है

अहा, अंतर में एकत्वस्वभाव का स्पर्श करके निकली हुई यह वीतरागी संतों की वाणी शुद्धात्मा का स्पर्श कराती है।

[समयसार, गाथा-४ के प्रवचन से]

आत्मा के एकत्वस्वभाव की प्राप्ति करना जीव को अनंत काल में महा दुर्लभ है। पर से भिन्न, राग से भिन्न तथा अनंत ज्ञानानंदस्वभाव से एकमेक—ऐसे एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा का अनुभव जीव को सुलभ नहीं है, क्योंकि उसकी रुचि-पूर्वक श्रवण-परिचय जीव ने कभी नहीं किया। धर्मी को तो अंतरस्वभाव के अभ्यास द्वारा शुद्धात्मा की उपलब्धि हो गई है, इसलिये उसे वह सुलभ हुई है। अज्ञानी को पर की रुचि द्वारा राग की सुलभता है, चैतन्य की दुर्लभता है और ज्ञानी-संतों को अंतर के अनुभव में चैतन्य की सुलभता हुई है—चैतन्य का लाभ हुआ है। अनंत काल में दुर्लभ अप्राप्त ऐसा आत्मा स्वानुभव द्वारा ज्ञानी को सुलभ हुआ है। उसे कषाय-बंधभाव दुर्लभ एवं दुःखदायक प्रतीत होते हैं। अपना स्वभाव अपने में है, इसलिये निश्चय से वह सुलभ है; क्योंकि उसमें प्राप्त की प्राप्ति है; जो अपने में है, उसका अनुभव करना है, कहीं बाहर से नहीं लाना है। परवस्तु की प्राप्ति तो दुर्लभ-अशक्य है क्योंकि परवस्तु अनंत काल में भी अपनी नहीं होती; एकत्वस्वभाव ही सुंदर एवं आनंददायक है।

श्री आचार्यदेव कहते हैं कि—अरे जीवो! अनंत काल से दुर्लभ ऐसा जो शुद्ध आत्मा, वह शुद्धात्मा मैं अपने समस्त आत्मवैभव से इस समयसार में बतलाता हूँ, तुम अपने स्वानुभव से उसे प्रमाण करना। मात्र शब्दों से या विकल्प से नहीं परंतु स्वानुभवप्रत्यक्ष द्वारा प्रमाण करना—ऐसा कहकर वाणी और विकल्पों का अवलंबन निकाल दिया है।

जीवों ने अनंत काल शुभ-अशुभ के चक्र में ही निकाला है; मोह से शुभाशुभभावों के साथ एकता करके उसी में अनादि से परिणमित हो रहे हैं, परन्तु उन शुभाशुभ से पार अकेला ज्ञानमात्र जो एकत्वस्वभाव, उसे कभी लक्षगत नहीं किया; ज्ञानी के निकट प्रेम से श्रवण भी नहीं किया। शुभ-अशुभ में आत्मा की सुंदरता या शोभा नहीं है; आत्मा की सुंदरता और शोभा तो एकत्वस्वभाव में है, उस स्वभाव का अनुभव ही सुखरूप है। पुण्य-पाप में एकत्व से तो दुःख का ही वेदन है। पुण्य-पाप के चक्र में परिभ्रमण करता हुआ जीव भवचक्र में भटक रहा

है; एकत्वस्वभाव की प्राप्ति द्वारा वह भ्रमण कैसे दूर हो उसकी यह बात है।

श्रीमद् राजचंद्रजी ने कहा है कि—

बहु पुण्य केरा पुंजथी, शुभदेह मानवनो मल्यो,
तोये अरे! भव चक्रनो, आंटो नहीं अेके टल्यो।

शुभभाव से अनंत बार मनुष्य-भव प्राप्त किया, तथापि उसके द्वारा भवचक्र का एक भी चक्कर कम नहीं हुआ। भव के नाश का भाव एकबार प्रगट करे तो अनंत भव का नाश हो जाये। अनंत काल का भवभ्रमण दूर करने में कहीं अनंत काल नहीं लगता; अनंत काल के भवभ्रमण का अंत स्वभाव के सेवन द्वारा एक क्षण में हो जाता है; परंतु अज्ञान के कारण जीवों को वह दुर्लभ हो गया है; इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि—अपने समस्त आत्मवैभव से एकत्वस्वभाव दर्शाता हूँ, उसे हे जीवो! तुम प्रमाण करना। जैसा शुद्धात्मा कहूँ, वैसा तुम अनुभव में लेना।

सर्वप्रथम आत्मा में सिद्धों की स्थापना करके और विकार को आत्मा में से निकालकर मैं एकत्व-विभक्त आत्मा को दर्शाता हूँ—कि जिसे जानने से सादि-अनंत अपूर्व सुख की प्राप्ति हो और यह भवभ्रमण का दुःख मिट जाये। भाई, यह तेरे स्वभाव की बात है, उसकी रुचि द्वारा अंतर अभ्यास द्वारा वह सुलभ होती है-अनुभव में आती है। जहाँ अंतरस्वभाव को लक्षगत किया, वहाँ उस स्वभाव के साथ एकत्व-परिणमन हुआ और रागादि परभावों से विभक्त परिणमित होने लगा। ऐसे एकत्व-विभक्तरूप से परिणमित होता हुआ आत्मा मोक्ष के मार्ग पर चलने लगा। एकछत्ररूप जो मोह का साम्राज्य था, उसमें से वह बाहर निकल गया। स्वभाव की रुचि नहीं थी, तब मोह का भार उठाता था, उसे शुद्धात्मा का अनुभव दुर्लभ था; अब स्वभाव की रुचि द्वारा उस विपरीतता में से बाहर निकल गया और शुद्धात्मा की रुचि द्वारा उसकी प्राप्ति को सुलभ बना दिया।

अहो, यह तो एकत्वस्वभाव का स्पर्श करके अंतर से निकली हुई वीतरागी संतों की वाणी है, यह शुद्धात्मा का स्पर्श कराती है।

शुद्धज्ञानप्रकाश द्वारा मोक्ष का मंगल

[श्रुतपंचमी के दिन सोनगढ़ में पूज्य बेनश्री चंपाबेन के ज्येष्ठ भ्राता श्री व्रजलालभाई जे. शाह तथा पंडित श्री हिम्मतभाई जे. शाह के नव-निर्मित मकान 'गुरु-तेज' का उद्घाटन पूज्य श्री कानजी स्वामी के शुभहस्त से हुआ। पूज्य स्वामीजी ने मोक्ष-अधिकार के मंगल श्लोक पर जो प्रवचन किया था, उसका सारांश यहाँ दिया जा रहा है—]

सीमंधर भगवान और महावीर भगवान ने केवलज्ञान-चतुष्टय द्वारा कर्मशत्रुओं पर विजय प्राप्त की है; यहाँ भी अधिकार के मंगल में कहते हैं कि—'परं पूर्णं ज्ञानं विजयते'—परमानन्द से भरपूर ऐसा परम पूर्ण ज्ञान उदय को प्राप्त हुआ, वह अनंत काल तक विजयवंत वर्तता है... ऐसा ज्ञान वह मंगल है।

आज श्रुतपंचमी का पवित्र दिन है। भगवान महावीरस्वामी का जो उपदेश गौतम गणधरदेव ने शास्त्ररूप में गूँथा, उसका अंश परम्परा से धरसेनस्वामी को प्राप्त हुआ था; वे गिरनार में रहते थे। उन्होंने वह ज्ञान पुष्पदंत-भूतबलि मुनियों को दिया; और उन्होंने उसे षट्खंडागमरूप से गूँथा। उसका महान उत्सव आज के दिन अंकलेश्वर में हुआ था—इसप्रकार यह तीर्थंकर भगवान की वाणी के साथ संधि का महान दिवस है।

धरसेनस्वामी पहले हुए और कुन्दकुन्दस्वामी बाद में; उन्होंने भी भगवान की साक्षात् वाणी को झेलकर श्री समयसार आदि अध्यात्मशास्त्रों की रचना की। पोन्नूर धाम में वह रचना की थी, और उसी के निकट धवलगिरि है, वहाँ श्री वीरसेनाचार्य ने धवला-टीका की रचना की थी—ऐसा प्रसिद्ध है। अहो, वे दिगंबर संत तो वीतराग थे; किंचित् एक संज्वलन राग शेष था; उसे निकाल दें तो उनमें और भगवान में कोई अंतर नहीं है।

भगवान महावीर का उपदेश झेलकर गौतमस्वामी भावश्रुतरूप परिणमित हुए; इसलिये धवल में कहा है कि—भगवान ने गौतमगणधर को भावश्रुत का उपदेश दिया। उस भावश्रुत में शुद्धात्मा का स्वरूप कहा है।

आत्मा का ज्ञान जो आच्छादित था, वह अब 'उन्मज्जत्' अर्थात् उछलकर प्रगट हुआ, साथ ही परम आनंद को लेकर प्रगट हुआ। अतीन्द्रिय आनंद से भरपूर ज्ञान स्वयं अपने को स्वानुभवप्रत्यक्ष होता है। मति-श्रुतज्ञान भी स्वसंवेदन के समय अतीन्द्रिय हुए हैं—प्रत्यक्ष हुए

हैं। चौथे गुणस्थान के मति-श्रुतज्ञान में भी अंशतः प्रत्यक्षपना होता है। 'आद्येपरोक्षं' कहा उसमें इतना अपवाद साथ ही है, ऐसा समझ लेना चाहिये। अहो, जो केवलज्ञान प्रगट हुआ, वह अनंत काल रहेगा, उसका उदय महान मंगलरूप है; वह सहज परमानंद से परिपूर्ण है। अतीन्द्रिय आनंद का भंडार आत्मा स्वयं पूर्णानंदरूप से परिणमित हो गया... वह आनंद सहज है। उस आनंदरूपी रस से भरपूर होने के कारण ज्ञान स-रस है। अरस आत्मा जड़ के रस से रहित है, परंतु सरस आत्मा निजानंद के रस से भरपूर है। ऐसा अरस-सरस आत्मा है। ज्ञान उसका स्वरूप है और पुद्गल का रूप उसमें नहीं है, इसलिए अरूप-स्वरूप आत्मा है।—ऐसे केवलज्ञानरूप परिणमित आत्मा वह मंगलरूप है।

चैतन्यतेज से भरपूर आत्मा शरीर बिना परम आनंद से परिपूर्ण है। अहो! केवलज्ञानप्रकाश चैतन्यतेज वह पूर्णानंद सहित प्रगट होता है; वह आत्मा को मोक्ष प्राप्त कराता है; वह जगत में उत्कृष्ट तेज—प्रकाश है। ऐसे आत्मा की प्रतीति करने से सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा मोक्ष के मार्ग में केलि करते हैं। मोक्ष परम आनंदरूप है और उस मोक्षमार्ग की साधना करनेवाले सम्यक्त्वी धर्मात्मा भी मोक्षमार्ग में केलि-आनंद करते हैं। अहो, वे जगत में जिनेश्वरदेव के लघुनंदन हैं, जगत से उदास एवं भगवान के दास हैं। जघन्य (छोटे से छोटा) अंतरात्मा भी शिवमगचारी है, मोक्ष का साधक है... उसे भी पूर्ण उत्कृष्ट परिणमन होने पर केवलज्ञान एवं पूर्ण आनंद होता है। उत्कृष्ट हुआ, इसलिये पहले जघन्य तो था—ऐसा उसमें आ जाता है। चौथे गुणस्थान से ही अतीन्द्रिय आनंद एवं अतीन्द्रियज्ञान का अंश प्रारंभ हो गया है, मोक्षमार्ग प्रारंभ हो गया है। सम्यक्त्वरूपी दूज उगी, वह बढ़कर पूर्णिमा होगी ही... अल्पकाल में केवलज्ञान होने का निर्णय सम्यग्दृष्टि को हो गया है।

सम्यग्दृष्टि को कैसी प्रतीति होती है? 'सर्व बंधभाव हेय हैं और शुद्धजीव उपादेय हैं'—इसप्रकार भेदज्ञान द्वारा बंध और आत्मा को अत्यंत भिन्न जानकर शुद्धात्मा को प्रतीति में लेते हैं। समस्त बंधभावों से आत्मा को भिन्न करना है तो उसका साधन बंधभाव कैसे होगा? शुभविकल्प भी बंधभाव है, वह भेदज्ञान का साधन नहीं है। अशुद्धता, वह शुद्धता का साधना नहीं होता। ज्ञान शुद्धजीवस्वरूप की ओर ढला, वहाँ सर्व बंधभावों से वह पृथक् हो गया।—ऐसा भेदज्ञान, वह मोक्ष का कारण है; आनंद के वेदन सहित ऐसा ज्ञान प्रगट हुआ, तब मोक्ष का उद्घाटन हुआ। भेदज्ञानरूपी करवत के निरंतर अभ्यास से अर्थात् स्वानुभव का निरंतर अभ्यास करने से बंध को छेदकर आत्मा मुक्त होगा—वह मंगलरूप विजयवंत है।●

मध्यलोक के शाश्वत जिन-मंदिर

सोनगढ़ में अष्टाह्निका पर्व में 'तेरह द्वीप पूजन'—विधान में जंबूद्वीप की पूजा चलती थी। तत्संबंधी स्पष्टता करते हुए पूज्य स्वामीजी ने कहा कि—तेरह द्वीप पूजन का अर्थ क्या है? क्या तेरह द्वीपों की पूजा है? द्वीपों की पूजा नहीं, परंतु परिपूर्ण वीतराग विज्ञानता के स्मरणसहित—श्रद्धासहित उनमें विद्यमान शाश्वत् जिनमंदिर तथा जिन प्रतिमाओं की पूजा है। इस मध्यलोक में असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं। उनमें प्रारंभ में तीन द्वीप-प्रथम जंबूद्वीप, द्वितीय धातुकीखंड द्वीप, तृतीय पुष्कर द्वीप, इसके बाद आठवाँ नंदीश्वर द्वीप, ग्यारहवाँ रुचकवर द्वीप और तेरहवाँ कुंडल द्वीप—इन छह द्वीपों में कुल ४५८ शाश्वत् जिनमंदिर हैं और प्रत्येक जिनमंदिर में १०८ रत्नमय जिनबिंब हैं। इसप्रकार १३ द्वीपों में ४५८ शाश्वत् जिनमंदिर तथा जिन प्रतिमाओं की पूजा करने में आती है। इसको संक्षेप में 'तेरह द्वीप पूजन' कहा है। मध्यलोक में असंख्य द्वीप-समुद्र हैं, परंतु उनमें तेरहवें द्वीप तक ही जिनमंदिर हैं, इसके बाद असंख्य द्वीप-समुद्रों में जिनमंदिर नहीं। तथा तेरह द्वीप में से छह द्वीप में ही जिनमंदिर हैं, शेष सात द्वीपों में जिनमंदिर नहीं हैं। तेरह द्वीप के नाम और उसमें आये हुए ४५८ शाश्वत् जिनमंदिरों की संख्या नीचे लिखे अनुसार है:—

(१) जंबूद्वीप में शाश्वत् जिनमंदिर हैं ७८
(२) धातुकीखंड द्वीप इसमें जिनमंदिर हैं १५८
(३) पुष्करवर द्वीप इसमें जिनमंदिर हैं १६२
(४) वारुणीवर द्वीप,
(५) क्षीरवर द्वीप,
(६) घृतवर द्वीप,
(७) इक्षुवर द्वीप—इन चार में जिनमंदिर नहीं हैं।
(८) नंदीश्वर द्वीप, इसमें जिनमंदिर ५२
(९) अरुणवर द्वीप, इसमें जिनमंदिर नहीं हैं।
(१०) अरुण-उद्भव द्वीप इसमें जिनमंदिर नहीं हैं।
(११) कुंडलवर द्वीप इसमें जिनमंदिर हैं..... ४

(१२) शंखवर द्वीप इसमें जिनमंदिर नहीं हैं।

(१३) रुचकवर द्वीप इसमें जिनमंदिर हैं..... ४

कुल संख्या ४५८

जंबूद्वीप में एक मेरु पर्वत है। इसका नाम सुदर्शन मेरु है, दूसरे धातकी खंड में दो मेरु पर्वत हैं, इनका नाम विजयमेरु और अचलमेरु है; तीसरे पुष्कर द्वीप में दो मेरु पर्वत—इनका नाम मंदार मेरु और विद्युन्माली मेरु हैं। इन पाँचों मेरु पर्वतों पर उनके क्षेत्र संबंधी तीर्थंकरों के जन्माभिषेक किये जाते हैं। प्रत्येक मेरु के वैभवरूप ७८ शाश्वत् जिनालय हैं। प्रथम सुदर्शन मेरु एक लाख महायोजन अर्थात् ४०००००००० मील ऊँचा है, शेष चार मेरु ८४००० महायोजन ऊँचे हैं। सुदर्शर मेरु की चोटी के बाद एक बाल जितनी जगह छोड़कर तुरंत पहला स्वर्ग आ जाता है। ४५८ शाश्वत् जिनमंदिरों में से अपने इस भरतक्षेत्र के हिस्से में एक शाश्वत जिनालय आता है और वह विजयार्द्ध पर्वत पर है।

प्रथम जंबूद्वीप, द्वितीय धातकीखंड, तृतीय पुष्कर द्वीप का आधा भाग, इसप्रकार ढाई द्वीप जितना क्षेत्र जो कि ४५ लाख महायोजन के व्यास वाला गोलाकार है, और एक लाख महायोजन ऊँचा है, इतना मनुष्य-क्षेत्र है। सामान्यतः इस ढाई द्वीप के बाहर मनुष्यों का गमन नहीं होता। आठवें नंदीश्वर द्वीप इत्यादि के जिनालयों में मनुष्य नहीं जा सकते। देव वहाँ भक्तिपूर्वक दर्शन-पूजन करते हैं। वहाँ के रत्नत्रय जिनबिंबों की अद्भुत वीतरागता देखकर अनेक देव आत्मोन्मुख होकर सम्यक्त्व भी प्राप्त करते हैं।

जाने की नहीं शक्ति हमारी अरु पूजन मन भाई,
यातें मनवचकाय शुद्धतें अर्घ जजूं जिनराई।

विविध समाचार

एत्मादपुर (उ.प्र.)—दिगंबर जैन पंचायत मंदिरजी में नवनिर्मित वेदी में भगवान पार्श्वनाथ की जिनप्रतिमा का प्रथम वार्षिकोत्सव अषाढ़ वद १५ से सुद २ तक विविध धार्मिक कार्यक्रमों सहित मनाया गया; कलशाभिषेक भी हुआ। इस अवसर पर जैन समाज के निवेदन पर पंडित श्री धन्नालालजी (लश्कर), ब्रह्मचारी पंडित श्री प्रो. देवचंदजी (सहारनपुर) पधारे थे। इनके प्रतिदिन तीन बार शास्त्र-प्रवचन होते थे। श्रोतागण मंत्रमुग्ध होकर बड़े प्रेम से सुनते थे, समाज ने अच्छी तरह धर्मलाभ लिया। लोगों में आत्मतत्त्व समझने की जिज्ञासा जागृत हुई।

—मंत्री, रामस्वरूप जैन

सागर (म.प्र.)—इंदौर में आयोजिन शिक्षण शिविर में श्री पंडित खेमचंदभाई का आगमन हुआ था। वहाँ सागर जैन समाज तथा समाजभूषण सेठ भगवानदासजी के आग्रह पूर्ण निवेदन पर पंडितजी का दुर्लभ समय हमारे सागर समाज के लिये भी प्राप्त हो गया और भोपाल से सागर लिवा ले जाने के लिये सेठजी ने पंडित मुन्नालालजी समगोरया तथा पंडित परमेष्ठीदासजी एम.ए., पी.एचडी., प्रिंसपल गुरुकुल खुरई को भेजा था। उन्होंने वायुयान-स्थल पर श्री खेमचंदभाई का स्वागत किया तथा रात्रि को सागर आगमन पर उपस्थित स्वागत-समिति ने हार्दिक स्वागत किया। सेठ भगवानदासजी के निवास-स्थान पर ठहरे। सवेरे जैन समाज के गणमान्य लोग पहुँचे, गाजेबाजे के साथ सब लोग पंडित खेमचंदभाई को लेकर वर्णी भवन में आये। एक घंटे तक मधुर और सारगर्भित प्रवचन सुनकर विशाल श्रोतागण आत्म-विभोर हो गये। सर्वत्र आपकी विद्वत्ता एवं प्रवचन शैली की भूरि-भूरि प्रशंसा होने लगी।

दोपहर को एक घंटे तक चैत्यालय में आपका प्रवचन हुआ। रात्रि के ९ से १० तक धार्मिक प्रवचन के द्वारा अपूर्व धर्म प्रभावना हुई। इसप्रकार तीन दिन तक कार्यक्रम चलता रहा। शेष समय में भी तत्त्वचर्चा, शंका-समाधान आदि होते रहे। स्थानीय विद्वानों के साथ ही साथ बाहर के अनेक विद्वानों ने भी सब कार्यक्रमों में भाग लिया। व्यावर से आकर श्रीमान् पंडित हीरालालजी सि. शास्त्री ने भी चर्चा में भाग लिया। उपरांत आपके प्रवचनों से सागर में चातुर्मास के लिये आये हुये मुनिराज एवं दो क्षुल्लकजी ने भी लाभ उठाया।

अंतिम दिन सागर जैन समाज ने पंडित श्री खेमचंदभाई को एक सन्मान-पत्र समर्पित किया। सभी विद्वानों ने आपका हार्दिक स्वागत किया। 'वर्णी अभिनंदन ग्रंथ' तथा 'पंडित गोपालदास वरैया स्मृति-ग्रंथ' भी पंडितजी को समर्पित किये गये। अतृप्त 'सागर' जैन समाज ने आप से प्रार्थना की कि आप पुनः सागर पधारकर हमें धर्मलाभ पहुँचायें। पंडितजी ने अपनी लघुता प्रगट करते हुये कहा कि—मैं तो आपको पूज्य कानजीस्वामी द्वारा सर्वज्ञ-वीतराग कथित संदेश जो है, वही देता हूँ, आप लोग सोनगढ़ पधारकर सच्चे धर्म का लाभ लीजिए। पश्चात् भोपाल के लिये पंडितजी ने प्रस्थान किया।

डालचंद सराफ

मंत्री-मुमुक्षु मंडल सागर (म.प्र.)

भोपाल (म.प्र.)—सागर से लौटते समय श्री पंडित खेमचंदभाई भोपाल दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल के विशेष आग्रह से चार दिन के लिये ठहरे। तारीख ७ जून से यहाँ विद्यार्थियों के लिये जैन शिक्षणवर्ग का आयोजन चल रहा था, इन्हीं दिनों में पंडित श्री खेमचंदभाई तारीख १७ से २० तक यहाँ पधारे। आपका कार्यक्रम प्रातः ७.०० से ८.०० बजे तक शास्त्र-प्रवचन, मध्याह्न ३.०० से ४.०० बजे तक शिक्षण-वर्ग, रात्रि को प्रवचन—इसप्रकार तीन बार होता था और स्त्री-पुरुष विशाल संख्या में आकर लाभ लेते थे। लोगों में विशेष जिज्ञासा तथा जागृति देखने में आती थी। समाज ने आपसे अनुरोध किया कि आप बारंबार पधारकर हमें धर्म की प्रेरणा देते रहें।

★★★

ब्रह्मचारी पंडित दीपचंदजी को माननीय श्री नवनीतभाई (प्रमुख श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट तथा भा. दि. तीर्थक्षेत्र कमेटी के माननीय सदस्य) प्रचारार्थ भेजते हैं। परम उपकारी सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के चारों अनुयोग के शास्त्रों पर प्रवचन (टेपरील रिकार्डिंग मशीन पर) सुनाने के लिये आमंत्रण मिलने पर वे महाराष्ट्र में जगह-जगह जाते हैं।—

शिरड शाहपुर (जिला परभणी महाराष्ट्र)—यहाँ अष्टाह्निका पर्व पर विशेष आमंत्रण से ब्रह्मचारी जी आये, पर्व बड़ी धामधूम से मनाया गया, दिन में तीन बार कार्यक्रम चलाये, सब लोग बड़ी रुचि सहित समय पर उपस्थित रहते थे। यहाँ अतिशय क्षेत्र है, बड़ी

प्रतिमाजी भगवान मल्लिनाथस्वामी की है; यहाँ दो स्वाध्याय-मंडलों की स्थापना हुई, पुरुषों के मंडल की स्थापना श्री पारसोबाजी अप्पाजी महाराज के हाथ से तथा महिला स्वाध्याय मंडल की स्थापना श्रीमती गोदावरी अंबादास राव जैन के हाथ से हुई। धामधूम से शास्त्रजी सहित रथयात्रा निकाली थी, सभी का उत्तम सहयोग रहा, अब फालेगाँव, जिंतुर, चोपडा, हिंगोली जाने का कार्यक्रम है।

★★★

उदयपुर (राजस्थान)—अष्टाह्निका पर्व बड़े उत्साह से मनाया गया। उदयपुर दिगंबर जैन मुमुक्षु-मंडल के विशेष आग्रह पर बम्बई से श्री पंडित हिम्मतलालभाई आये थे। सवेरे, दोपहर एवं रात्रि को पंडितजी के प्रभावशाली प्रवचन होते थे। प्रत्येक कार्यक्रम में समाज ने बहुत रुचि सहित भाग लिया। विस्तृत समाचार देर से आने के कारण नहीं दिये जा सके।

★★★

अहमदाबाद—अष्टाह्निका पर्व में प्रसिद्ध वक्ता श्री बाबुभाई फतेपुर वालों के पधारने से लोगों ने हजारों की संख्या में आपके धार्मिक प्रवचन, शंका-समाधान, जिनेन्द्रभक्ति आदि का लाभ लिया, प्रत्येक कार्यक्रम बहुत उत्साह सहित संपन्न हुआ।

वे मुनिवर....

(राग : मल्हार)

वे मुनिवर कब मिलिहैं उपकारी... वे मुनिवर०
साधु दिगंबर नगन निरम्बर, संवर भूषणधारी
....वे मुनिवर ॥१॥

कंचन कांच बराबर जिनके, ज्यों रिपु त्यौं हितकारी।
महल मसान मरन अरु जीवन, सम गरिमा अरु गारी
....वे मुनिवर ॥२॥

सम्यग्ज्ञान प्रधान पवन बल, तप पावक परजारी।
सेवत जीव सुवर्ण सदा जे, काय-कारिमा टारी
....वे मुनिवर ॥३॥

जोरी जुगल कर 'भूधर' विनवै, तिन पद ढोक हमारी।
भाग उदय दरशन जब पाऊं, ता दिन की बलिहारी
....वे मुनिवर ॥४॥

नये प्रकाशन

छहढाला (सचित्र)

सर्वज्ञ-वीतराग कथित सर्व शास्त्रों के साररूप यह ग्रंथ पाठ्य-पुस्तकरूप में भी जैन समाज में अति-प्रचलित है। इसमें पंडित श्री दौलतरामजी ने जैन-तत्त्वज्ञान को गागर में सागर की भाँति भर दिया है। रंगीन चित्रों के कारण पढ़ने में विशेष रुचि और समझने में सरलता रहती है। पृष्ठ संख्या २१०, लागत मूल्य-१-५० होने पर भी मात्र १); में कमीशन नहीं है।

अपूर्व अवसर-प्रवचन

[श्रीमद् राजचंद्रजी कृत 'अपूर्व अवसर' काव्य पर पूज्य कानजीस्वामी के प्रवचन]

यह काव्य अत्यंत रोचक, आत्मिक उत्साहमय, अध्यात्मरस से भरपूर बारंबार पढ़ने योग्य हैं; खूब माँग होने से यह इसकी तीसरी आवृत्ति है। इस बार इसमें पंडित प्रवर श्री टोडरमलजी के सुपुत्र पंडित श्री गुमानीरामजी कृत बृ० समाधिमरणस्वरूप तथा पंडित जयचंदजी कृत बारह भावना का समावेश किया है।

श्री सेठी ग्रंथमाला द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ संख्या १८०, मूल्य १)५०, थोक मंगाने पर २५ प्रतिशत कमीशन।

चिद्विलास

अनुभवप्रकाश, आत्मावलोकन, ज्ञानदर्पण, अध्यात्म-पंचसंग्रह, भावदीपिकादि ग्रंथों के कर्ता, अध्यात्मतत्त्व द्रव्यानुयोग के विशेषज्ञ अधिकारी, अनुभवी विद्वान श्री दीपचंदजी शाह कासलीवाल कृत यह 'चिद्विलास' ग्रंथ जो प्रवचनसार आदि परमागम के संक्षेप साररूप है; अनेक शास्त्रों के गहन अध्ययन चिंतन के फलरूप सुंदर, रोचक और प्रौढ़ रचना है। हरेक स्वाध्याय प्रेमी को बारंबार पढ़नेयोग्य है।

सेठी ग्रंथमाला से प्रकाशित दूसरी आवृत्ति पृ० सं० १९६, मूल्य १-५०, थोक मंगाने पर २५ प्रतिशत कमीशन पोस्टेज अलग।

प्राप्तिस्थान : श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़ के लिये प्रकाशक एवं मुद्रक :
मगनलाल जैन, अजित मुद्रणालय, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)